वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००
विवेक-ज्योति
वर्ष ४९ अंक १० अक्तूबर २०११
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
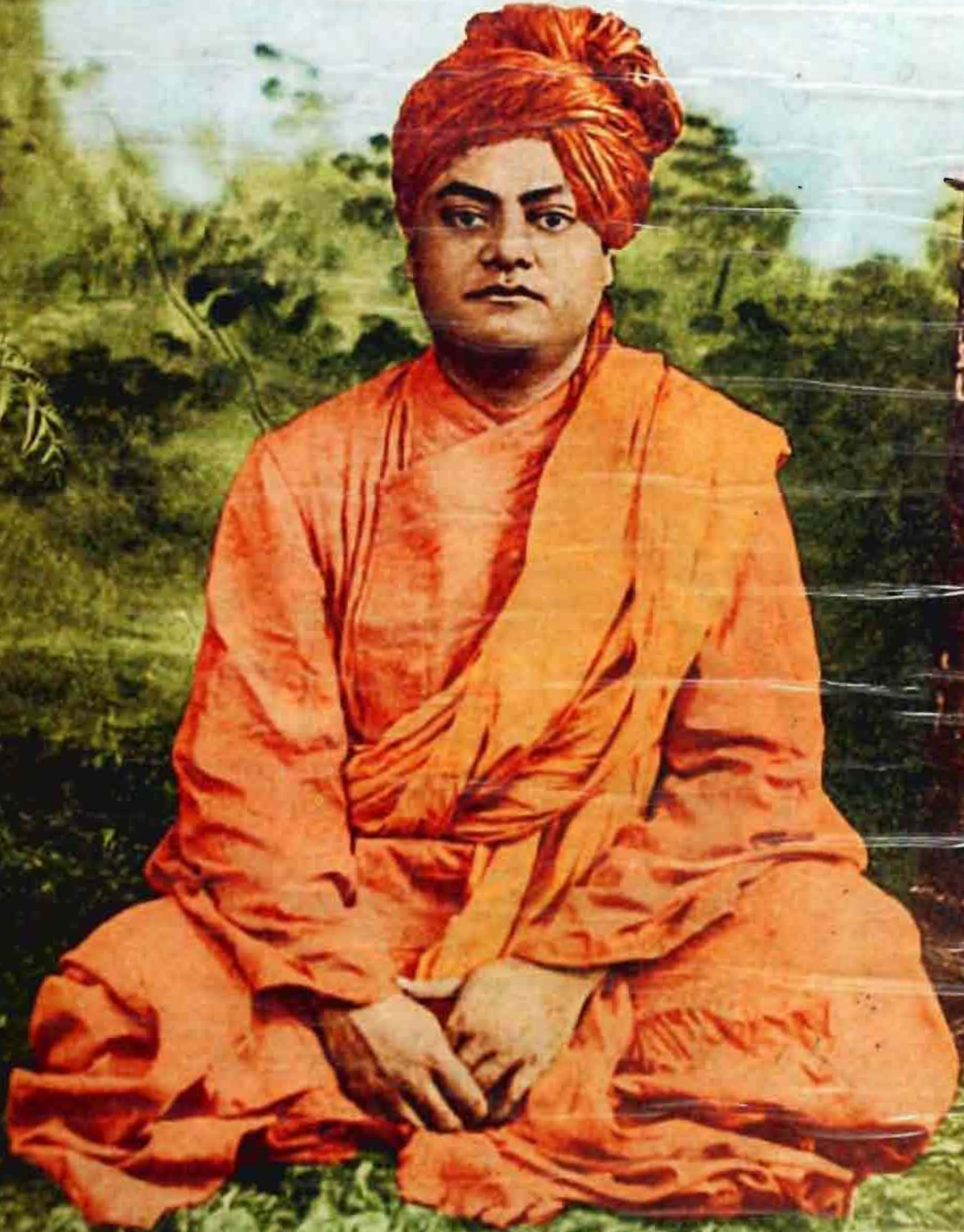
॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

अक्तूबर २०११

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४९
अंक १०

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९
(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

प्रिंट आर्डर – २२,५००

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं । सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

पुरखों की थाती

अणुरप्यसतां संगः सद्‌गुणं हन्ति विस्तृतम् ।
गुण-रूपान्तरं याति तक्रयोगाद्यथा पयः ।।८८।।

– दुर्जनों की जरा-सी भी संगति सद्‌गुणों का काफी नाश कर देती है, वैसे ही जैसे कि दूध में जरा-सी दही पड़ जाय, तो उसमें पूरा बदवाव आ जाता है।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।।८९।। (गीता)

– हे महाबली अर्जुन, इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस चंचल मन को वश में लाना अत्यन्त कठिन है, परन्तु यह निरन्तर अभ्यास तथा वैराग्य की सहायता से वशीभूत हो जाता है।

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।९०।।

– जिन अखण्ड-मण्डलाकार परमात्मा के द्वारा यह चराचर जगत् व्याप्त है, उनका स्वरूप दर्शन करानेवाले श्री गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ। (गुरु-स्तोत्रम्, २)

अज्ञान-तिमिरान्धस्य ज्ञानांजन शलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।९१।।

– जिन्होंने ज्ञानरूपी अंजन की शलाका के द्वारा, अज्ञान रूपी अन्धकार के रोग के द्वारा अन्ध मेरे नेत्रों को खोल दिया है, उन श्री गुरुदेव को मैं प्रणाम करता हूँ। (गुरु-स्तोत्रम्, ३)

असम्भवं हेममृगस्य जन्म
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।
प्रायः समापन्न-विपत्ति-काले
धियोऽपि पुंसां मलिनी-भवन्ति ।।९२।।

– सोने का हिरन पैदा होना असम्भव बात है, तो भी श्रीराम उसे देखकर प्रलोभित हो गये। विपत्ति का समय आने पर प्राय: व्यक्ति की बुद्धि भ्रमित हो जाती है।

अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुद्ध्यते ।
अजम्-अनिद्रम्-अस्वप्नम्-अद्वैतं बुद्ध्यते तदा ।।९३।

– अनादि काल से मायारूपी निद्रा में सोया जीव, जब (आत्म ज्ञान पाकर) जागता है, तब उसे अपने जन्मरहित, निद्रारहित, स्वप्नरहित अद्वैत स्वरूप का बोध होता है। (गौड़पादाचार्य)

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सहगच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वेष्ट्यमानः ।।९४।।

– मनुष्य की मृत्यु के बाद उसका धन दूसरे लोग भोग करते हैं; आयु तथा अग्नि उसके शरीर के पदार्थों का नाश करते हैं; पाप तथा पुण्य – केवल दो चीजें ही उसे घेरकर उसके साथ परलोक तक जाती हैं। (महाभारत, ५/४०/१६)

अजवत् चर्वणं कुर्यात् गजवत् स्नानमाचरेत् ।।
पिकवत् भाषणं कुर्यात् बकवत् ध्यानमाचरेत् ।।९५।।

– बकरी के समान भोजन को चबाना चाहिये, हाथी के समान नहाना चाहिये, कोयल के समान मधुर वाणी बोलनी चाहिये और बगुले के समान एकाग्र चित्त से ध्यान करना चाहिये।

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते
कैव कथा शरीरिषु ।।९६।।

– तपाये जाने पर तो लोहा भी नरम हो जाता है, तो फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या है? (रघुवंश, ८/४३)

अल्प-व्ययता अल्प-भाण्डता साधुः ।।९७।।

– थोड़ा व्यय करना और थोड़ा संग्रह करना ही उचित है।

अनागत-विधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता ... ।।९८।।

– अपना भला चाहनेवाले को भविष्य के लिये उपाय करना ही चाहिये। (वाल्मीकि रामायण, अरण्य.२४.११)

कालिका-वन्दना

– १ –

(अहीर-भैरव-रूपक)

कौन, तुम हर-हृदि-विलासिनी !
श्यामवर्णा मुक्त-कुन्तल,
निखिल विश्व-प्रकाशिनी ।।

देख खप्पर-खड्ग कर में,
काँप उठते अरि समर में,
दानवों की रुधिर-धारा,
पान कर उल्लासिनी ।।

डोलती गल-मुण्डमाला,
नृत्य करती हो कराला,
नाश कर खल-असुर-दल का,
अट्ट-अट्ट-विहासिनी ।।

वेद-शास्त्र-पुराण-दर्शन,
देखते यह दिव्य नर्तन,
तव 'विदेह' अगम्य लीला,
मातु भवभय-नाशिनी ।।

– २ –

(भैरवी-रूपक)

मुण्डमाला-धारिणी, कालिके भव-हारिणी,
हृदयपद्म-विलासिनी, शोक-ताप-विदारिणी ।।

युद्ध तेरा मोद है, मृत्यु तेरी गोद है,
घोर तम के बीच भी, ज्योति-वर्षणकारिणी ।।

शत्रु हैं मेरे प्रबल, दे मुझे उत्साह-बल,
साथ रहना सर्वदा, खड्ग-खप्पर धारिणी ।।

स्नेह का अमृत पिला, चेतना देकर जिला,
तू सुषुम्ना-मार्ग से, ऊर्ध्व पथ-संचारिणी ।।

✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪ ✪

– 'विदेह'

धर्मावतार श्रीरामकृष्ण

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अपनी आत्मकथा नहीं लिखी, तथापि उनके स्वयं के पत्रों तथा व्याख्यानों और उनके गुरुभाइयों के संस्मरणों में यत्र-तत्र उनके अपने जीवन-विषयक बातें आ गयी हैं। उनकी ऐसी ही उक्तियों का एक संकलन कोलकाता के अद्वैताश्रम द्वारा 'Swami Vivekananda on Himself' शीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ है। उसी के आधार पर बँगला के सुप्रसिद्ध साहित्यकार शंकर ने 'आमि विवेकानन्द बोलछि' शीर्षक के साथ एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित कराया है। हम उपरोक्त दोनों ग्रन्थों तथा कुछ अन्य सामग्री के संयोजन के साथ यह संकलन क्रमश: प्रकाशित कर रहे हैं। इसके द्वारा स्वामीजी के अपने ही शब्दों में उनके जीवन तथा ध्येय का एक प्रेरक विवरण प्राप्त होगा। – सं.)

(गतांक से आगे)

अवतार जब आते हैं, तब उनकी लीला में भाग लेने हेतु मुक्त एवं मुमुक्षु लोग भी देह धारण करके उनके साथ आते हैं। अवतार करोड़ों जन्मों का अन्धकार मिटाकर केवल एक ही जन्म में मुक्त कर दे सकते हैं – इसी को कृपा कहते हैं।... उपाय है – उन्हें पुकारना। पुकारने से अनेक लोगों को उनका दर्शन मिलता है – ठीक हमारे जैसे शरीर में उनके दर्शन होते हैं और उनकी कृपा प्राप्त होती है। ...

जिन लोगों ने श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया है, वे धन्य हैं। **कुलं पवित्रं जननी कृतार्था**।... 'रामकृष्ण' नाम धारण करके कौन आया था, यह कोई न जान सका। उनके अन्तरंग संगी-साथी तक उनका पता नहीं पा सके। किसी-किसी को कुछ-कुछ मिला है, परन्तु बाद में सभी समझेंगे।[३७]

परब्रह्म तत्त्व में लिंग-भेद नहीं। हमें 'मैं-तुम' की भूमि में लिंग-भेद दिखायी देता है। फिर मन जितना ही अन्तर्मुख होता जाता है, उतना ही वह भेद-ज्ञान लुप्त होता जाता है। अन्त में, जब मन एकरस ब्रह्म-तत्त्व में डूब जाता है, तब फिर यह स्त्री है, वह पुरुष – आदि ज्ञान बिल्कुल नहीं रह जाता। हमने श्रीरामकृष्ण में यह भाव प्रत्यक्ष देखा।[३८]

तुम देखोगे कि संसार के किसी भी महान् आचार्य ने शास्त्र के वाक्यों के अनेक अर्थ नहीं किये, न शब्दों की खींचातानी का कोई प्रयत्न किया, न उन्होंने यह कहा कि इस शब्द का अर्थ अमुक है; और इस तथा उस शब्द के बीच भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इस प्रकार का सम्बन्ध है। संसार में जितने महान् आचार्य हुए हैं, उनके चरित्र का अध्ययन करो, तो कोई भी ऐसा नहीं मिलेगा, जिसने इस मार्ग का अवलम्बन किया हो। फिर भी इन्हीं आचार्यों ने यथार्थ शिक्षा दी।[३९]

यदि कोई परमहंसदेव को अवतार आदि स्वीकार करे, तो अच्छा है, यदि न करे तो भी ठीक ही है। परन्तु सच बात तो यह है कि चरित्र के विषय में श्रीरामकृष्ण सबसे आगे बढ़े हुए हैं। उनके पहले जो अवतारी महापुरुष हुए हैं, उनसे वे अधिक उदार, अधिक मौलिक और अधिक progressive (प्रगतिशील) थे। अर्थात् प्राचीन आचार्य एकांगी थे, परन्तु इन नये अवतार या आचार्य की शिक्षा यह है कि योग, भक्ति, ज्ञान और कर्म के सर्वोच्च भावों का सम्मिलन होना चाहिए, ताकि एक नये समाज का निर्माण हो सके।... प्राचीन आचार्य नि:सन्देह अच्छे थे, परन्तु यह इस युग का नया धर्म है – योग-समन्वय अर्थात् योग, ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय, बिना आयु तथा लिंग के भेदभाव के पतितों तक में ज्ञान और भक्ति का प्रचार। पहले के अवतार ठीक थे, परन्तु श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व में उनका समन्वय हो गया है।[४०]

रामकृष्ण परमहंस ईश्वर के अवतार थे, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। परन्तु लोग स्वयं ही उनकी शिक्षाओं को ढूँढ़ निकालें – ये चीजें तुम उन पर थोप नहीं सकते।...

रामकृष्ण परमहंस का अध्ययन किये बिना वेद-वेदान्त, भागवत तथा अन्य पुराणों में क्या है, यह समझना असम्भव है। उनका जीवन भारतीय धार्मिक विचार-सागर को आलोकित करनेवाला एक अनन्त शक्तिशाली सर्चलाइट है। वेद-वेदान्त के वे जीवन्त भाष्य थे। एक जीवन में ही उन्होंने भारत के राष्ट्रीय धार्मिक जीवन का एक समग्र युग को रूपायित कर दिया था। ...

रामकृष्ण परमहंस सबसे आधुनिक और सबसे पूर्ण हैं – ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, उदारता और लोकहित-कामना के मूर्तिमान स्वरूप हैं। क्या किसी अन्य के साथ उनकी तुलना हो सकती है? जो उन्हें समझ नहीं सकता है, उसका जीवन व्यर्थ है। मैं परम भाग्यवान हूँ कि मैं जन्म-जन्मान्तर से उनका दास रहा हूँ। उनका एक शब्द भी वेद-वेदान्त से अधिक मूल्यवान है। **तस्य दासदासदासोऽहम्** – मैं उनके दासों के दासों का दास हूँ!... चन्द मछुआरों और मल्लाहों ने ईसा मसीह को ईश्वर कहा था, परन्तु विद्वानों ने उन्हें मार

डाला; बुद्ध को उनके जीवन-काल में अनेक बनियों तथा चरवाहों ने मान लिया था, परन्तु रामकृष्ण को उनके जीवन-काल में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में विश्वविद्यालय के दिग्गजों ने ईश्वर कहकर पूजा की ... (कृष्ण, बुद्ध, ईसा आदि) के विषय में केवल दो चार ही बातें पोथी-पुराणों में हैं। कहावत है – ''जिसके साथ हम कभी रहे नहीं, वह अवश्य ही भला आदमी है।'' यहाँ तो दिन-रात संग करने के बावजूद वे उन सभी से बड़े प्रतीत होते हैं।[४१]

असल में हमारा आदर्श है – निर्गुण ब्रह्म। लेकिन चूँकि तुम सभी एक निराकार आदर्श से प्रेरणा नहीं ग्रहण कर सकते, इसलिए तुम्हें साकार आदर्श चाहिए। श्रीरामकृष्ण के व्यक्तित्व के रूप में वह तुम्हें मिला है। ... वेदान्त सबको उपलब्ध हो सके, इसके लिए हमें निश्चय ही एक ऐसा व्यक्ति चाहिए, जिसकी सहानुभूति वर्तमान पीढ़ी से हो। श्रीरामकृष्ण से इस आवश्यकता की परिपूर्ति होती है। अत: अब तुम उन्हें सबके समक्ष रखो। चाहे उन्हें कोई साधु माने या अवतार माने, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।

उन्होंने कहा था कि वे एक बार फिर हम लोगों के बीच आयेंगे। तब, मेरे ख्याल से, वे विदेह मुक्ति ग्रहण करेंगे।[४२]

एक बार जिन्हें उनकी कृपा प्राप्त हुई है, उनकी मन-बुद्धि फिर किसी भी तरह संसार में आसक्त नहीं हो सकती। काम-कांचन में अनासक्ति ही कृपा की परीक्षा है। वही यदि किसी में न मिले, तो उसने अभी तक श्रीरामकृष्ण की कृपा ठीक-ठीक प्राप्त नहीं की।[४३]

हमने ब्राह्म-समाज के महान् आचार्य केशवचन्द्र सेन के मुख से उनकी मनमोहक भाषा में कहते सुना है कि 'श्रीरामकृष्ण की सरल मधुर ग्राम्य भाषा अलौकिक पवित्रता से परिपूर्ण थी', यद्यपि उनके वक्तव्यों में कोई-कोई ऐसे शब्द मिल जाते हैं, जिन्हें हम अश्लील कहते हैं, तथापि उनके उस अपूर्व बालवत् कामगन्धहीन स्वभाव के कारण, उन शब्दों का प्रयोग दोषपूर्ण न होकर, बल्कि अलंकार-स्वरूप हुआ है।[४४]

पहले स्वयं को सत्य का ज्ञान होना चाहिए और उसके बाद तुम उसे अनेक लोगों को सिखा सकते हो, बल्कि वे लोग स्वयं उसे सीखने आयेंगे। मेरे गुरुदेव की यही शैली थी। उन्होंने कभी किसी पर टीका नहीं की। मैं वर्षों उनके पास रहा, परन्तु मैंने कभी उनके मुँह से किसी अन्य सम्प्रदाय की बुराई नहीं सुनी। सब सम्प्रदायों पर उनकी समान श्रद्धा थी और उन सबमें उन्होंने एकता का भाव ढूँढ़ लिया था। मनुष्य ज्ञानमार्गी, भक्तिमार्गी, योगमार्गी या कर्ममार्गी हो सकता है। विभिन्न धर्मों में इन भावों में से किसी एक का प्राधान्य दीख पड़ता है। परन्तु यह भी सम्भव है कि इन चारों भावों का मिश्रण एक ही मनुष्य में हो जाय। भावी मानव-जाति यही करेगी भी। यही मेरे गुरुदेव की धारणा थी। उन्होंने किसी को बुरा नहीं कहा, वरन् सबमें अच्छाइयाँ ही देखीं।[४५]

विधाता की इच्छा से मुझे एक ऐसे व्यक्ति के साथ रहने का अवसर प्राप्त हुआ था, जो जैसे ही पक्के द्वैतवादी थे, वैसे ही अद्वैतवादी भी थे और जैसे परम भक्त थे, वैसे ही महाज्ञानी भी थे। इसी व्यक्ति के साथ रह कर प्रथम बार मेरे मन में आया कि उपनिषद् और अन्य शास्त्रों के पाठ को आँखें मूंदकर केवल भाष्यकारों का अनुसरण न करके, स्वाधीन और उत्तम रूप से समझना चहिए। और अपने अनुसन्धान के द्वारा मैं इसी सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ कि ये समस्त शास्त्र परस्पर-विरोधी नहीं हैं।[४६]

श्रीरामकृष्ण का जीवन एक असाधारण ज्योतिर्मय दीपक है, जिसके प्रकाश में हिन्दू धर्म के विभिन्न अंग तथा आशय समझे जा सकते हैं। शास्त्रों में निहित सिद्धान्त-रूप ज्ञान के वे प्रत्यक्ष उदाहरण थे। ऋषि और अवतार हमें जो सच्ची शिक्षा देना चाहते थे, उसे उन्होंने अपने जीवन द्वारा दिखा दिया है। शास्त्र मतवाद मात्र हैं और रामकृष्ण उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति। उन्होंने अपने ५१ वर्ष के जीवन-काल में पाँच हजार वर्षों का राष्ट्रीय आध्यात्मिक जीवन जीया और इस प्रकार वे स्वयं को भविष्य की पीढ़ियों के लिए एक शिक्षाप्रद उदाहरण बना गये। विभिन्न मत एक-एक अवस्था या क्रम मात्र हैं – उनके इस सिद्धान्त से वेदों का अर्थ समझ में आ सकता है और शास्त्रों में सामंजस्य स्थापित हो सकता है। तदनुसार हमें दूसरे धर्म या सम्प्रदाय के लिए न केवल सहन-शीलता का प्रयोग करना चाहिए, अपितु उन्हें अपने जीवन में अंगीकार करके वास्तविकता में परिणत करना चाहिए और उसी के अनुसार सत्य ही सब धर्मों की नींव है।... शिक्षा देने के लिये उनके पास ज्ञान का भण्डार था।[४७]

(प्रश्न – क्या उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना की?) उत्तर – नहीं, उनका सारा जीवन साम्प्रदायिकता और कट्टरता को तोड़ने में ही बीता। उन्होंने किसी सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की, बल्कि ठीक उसके विपरीत ही किया। वे पूर्ण विचार-स्वातंत्र्य के समर्थक थे और इसकी स्थापना के लिये उन्होंने पूरा प्रयास किया। वे एक महान् योगी थे।[४८]

दूसरे लोगों ने, जिनके पास सिखाने को कुछ नहीं था, एक शब्द मात्र को ले लिया और उसी पर तीन खण्डों की पोथी रच डाली! मेरे गुरुदेव कहते – ऐसे लोगों को तुम क्या कहोगे, जो आम के बाग में जाकर वहाँ पेड़ों की पत्तियाँ गिनने, शाखाओं की मोटाई नापने और टहनियों की संख्या गिनने में ही लगे रहे, जबकि उनमें से केवल एक ही व्यक्ति ने बुद्धि का उपयोग करके आम खाना शुरू कर दिया।[४९]

पृथ्वी पर गुरुओं की एक अन्य श्रेणी होती है, जो ईसा मसीह जैसे होते हैं। वे 'गुरुओं के भी गुरु' होते हैं – स्वयं भगवान मनुष्य के रूप में आते हैं। वे बहुत ऊँचे होते हैं

और अपने स्पर्श या इच्छा मात्र से दूसरों में धर्म एवं पवित्रता का संचार करते हैं, जिससे नितान्त अधम और चरित्रहीन मनुष्य भी क्षण भर में साधु बन जाता है। उनके इस प्रकार के कार्यों के अनेक दृष्टान्त क्या हमने नहीं पढ़े हैं?... ये सब गुरुओं के गुरु हैं, मनुष्य को उपलब्ध होने वाली ईश्वर की सर्वोच्च अभिव्यक्तियाँ हैं, बिना उनको माध्यम बनाये हम किसी भी अन्य प्रकार से भगवान के दर्शन नहीं कर सकते। हम इनकी पूजा किये बिना नहीं रह सकते; ये ही ऐसी विभूतियाँ हैं, जिनकी पूजा करने को हम विवश हैं।[५०]

गुरु को शिष्य के पापों का बोझ वहन करना पड़ता है; और यही कारण है कि शक्तिशाली आचार्यों के शरीर में भी रोग प्रविष्ट हो जाते हैं। ...

आचार्य या गुरु होने की अपेक्षा जीवन्मुक्त होना सरल है, क्योंकि जीवन्मुक्त संसार को स्वप्नवत् मानता है और उससे कोई वास्ता नहीं रखता; पर आचार्य को जगत् की असत्यता का ज्ञान होने के बावजूद उसी में रहना और कार्य करना पड़ता है। (अत:) हर किसी के लिए आचार्य होना सम्भव नहीं। आचार्य के माध्यम से ही दैवी शक्ति कार्य करती है।

आचार्य का शरीर अन्य मनुष्यों के शरीर से बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है। उस (आचार्य के) शरीर को पूर्ण अवस्था में बनाये रखने का एक विज्ञान है। उनका शरीर बहुत ही कोमल, संवेदनशील और तीव्र आनन्द तथा कष्ट का अनुभव कर सकने की क्षमता रखनेवाला होता है। ...

श्रीरामकृष्ण एक महान् शक्ति हैं। तुम्हें यह विचार करने की जरूरत नहीं है कि उनका सिद्धान्त यह है या वह। वे तो एक महान् शक्ति हैं, जो अब भी उनके शिष्यों में विद्यमान है और संसार में कार्य कर रही है। मैंने उन्हें उनके विचारों के माध्यम से अभिव्यक्त होते देखा है। वे आज भी विकसित हो रहे हैं। श्रीरामकृष्ण जीवन्मुक्त भी थे और आचार्य भी।[५१]

मानवीय बुद्धि ईश्वर के विषय में जो सर्वोच्च भाव ग्रहण कर सकती है, वह अवतार तक ही है। उसके बाद आगे जानने का प्रश्न ही नहीं रहता। वैसे ब्रह्मज्ञ जगत् में कभी-कभी ही पैदा होते हैं। उन्हें कम लोग ही समझ पाते हैं। वे ही शास्त्र-वचनों के प्रमाण-स्थल हैं – भवसागर के आलोक-स्तम्भ हैं! इन अवतारों के सत्संग तथा कृपादृष्टि से एक क्षण में ही हृदय का अन्धकार दूर हो जाता है – सहसा ब्रह्मज्ञान का स्फुरण होता है। क्यों होता है या किस प्रणाली से होता है, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता, परन्तु होता अवश्य है। मैंने होते हुए देखा है।[५२]

ज्ञान-प्राप्ति के बाद, ज्ञानी से जो कर्म होते हैं, वे केवल '**जगद्धिताय**' होते हैं। आत्मज्ञानी जो कुछ भी कहते या करते हैं, वे सभी जीवों के कल्याण के लिए होती हैं। श्रीरामकृष्ण को देखा है – **देहस्थोऽपि न देहस्थः** (देह में रहते हुए भी वे 'देह के' नहीं होते थे)। यह भाव! ऐसे व्यक्तियों के कर्म के उद्देश्य के विषय में केवल यही कहा जा सकता है – **लोकवत्तु लीला-कैवल्यम्** (– वे जो कुछ भी मनुष्यों के समान करते हैं, वह लोक में लीला-रूप में होता है)।[५३*]

भला किसने सोचा था कि बंगाल के एक सुदूर गाँव में रहनेवाले एक निर्धन ब्राह्मण-परिवार में उत्पन्न इस बालक के जीवन तथा उपदेशों को इन कुछ ही वर्षों में ऐसे दूर देश के लोग जान सकेंगे, जिनके बारे में हमारे पूर्वजों ने कभी स्वप्न में भी न सोचा होगा? मैं यह सब भगवान श्रीरामकृष्ण के सन्दर्भ में कह रहा हूँ।[५४]

उनके जन्म की तिथि से ही सत्ययुग शुरू हो गया है। इसलिए अब सब प्रकार के भेदों का अन्त है और चाण्डाल सहित सभी लोग उस दैवी प्रेम के भागी होंगे। पुरुष और स्त्री, धनी और दरिद्र, शिक्षित और अशिक्षित, ब्राह्मण और चाण्डाल – के बीच के सारे भेदभावों को समूल नष्ट करने के लिए ही उन्होंने जीवन बिताया। वे शान्ति के दूत थे – हिन्दू और मुसलमानों का भेद, हिन्दू और ईसाइयों का भेद – अब सब भूतकालीन हो गये हैं। मान-प्रतिष्ठा के लिए जो झगड़े होते थे, वे सब अब बीते युग की बातें हैं। इस सत्ययुग में श्रीरामकृष्ण के प्रेम की विशाल लहर ने सबको एक कर दिया है।... जो कोई – पुरुष या स्त्री – श्रीरामकृष्ण की पूजा करेगा, वह चाहे कितना ही पतित क्यों न हो, तत्काल सर्वश्रेष्ठ में परिणत हो जायगा।... वे स्त्रियों के रक्षक थे, जनता के रक्षक थे, ऊँच और नीच सबके रक्षक थे।[५५]

अपने गुरुदेव के सान्निध्य में रहकर मैंने यह जान लिया कि इस जीवन में ही मनुष्य पूर्णावस्था को पहुँच सकता है। उनके मुख से कभी किसी के लिए दुर्वचन नहीं निकले और न उन्होंने कभी किसी में दोष ढूँढ़ा। उनकी आँखें कोई बुरी चीज देख ही नहीं सकती थीं और न उनके मन में कभी बुरे विचार ही प्रवेश कर सकते थे। उन्हें जो कुछ दिखा, वह अच्छा ही दिखा। यह महान् पवित्रता तथा महान् त्याग ही आध्यात्मिक जीवन का रहस्य है। वेदों का कथन है – **न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः** – "अमरत्व न सन्तति से प्राप्त हो सकता है, न धन से – यह तो केवल वैराग्य से ही पाया जा सकता है।" ईसा मसीह भी यही कहते हैं, "जो कुछ तेरे पास है, वह सब बेचकर निर्धनों को दे दे और मेरा अनुसरण कर।" यही भाव सभी साधु-सन्तों तथा पैगम्बरों ने प्रकट किया और उसे अपने जीवन काल में निबाहा है। बिना त्याग के आध्यात्मिकता कैसे प्राप्त हो सकती है? सभी धर्मभावों की पृष्ठभूमि केवल त्याग ही है और तुम यह सदैव देखोगे कि धर्म के क्षेत्र में ज्यों-ज्यों त्याग का भाव क्षीण

* ब्रह्मसूत्र, २.१.३३

होता जाता है, त्यों-त्यों इन्द्रियों का प्रभाव बढ़ता जाता है और उसी मात्रा में आध्यात्मिकता का ह्रास होता जाता है।

मेरे गुरुदेव त्याग की साकार मूर्ति थे। हमारे देश में जो भी संन्यासी होता है, उसके लिए आवश्यक होता है कि वह सारी सांसारिक सम्पत्ति तथा सामाजिक स्थिति का त्याग कर दे और मेरे गुरुदेव ने इस सिद्धान्त का अक्षरश: पालन किया। ऐसे बहुत से लोग थे, जिनसे यदि मेरे गुरुदेव कोई भेंट ग्रहण कर लेते, तो वे अपने को धन्य मानते और उनकी स्वीकृति मिलने पर वे लोग उन्हें हजारों रुपये दे देते; परन्तु मेरे गुरुदेव ऐसे ही लोभों से दूर भागते थे। काम-कांचन पर पूर्ण विजय के वे सजीव तथा जाज्वल्यमान उदाहरण थे। वे इन दोनों चीजों की कल्पना से भी परे थे और इस शताब्दी के लिए ऐसे ही महापुरुषों की जरूरत है। आज के दिनों में ऐसे ही त्याग की जरूरत है; विशेषकर जब लोग यह समझते हैं कि उन चीजों के बिना वे एक माह भी जीवित नहीं रह सकते, जिन्हें वे अपनी "आवश्यकताएँ" कहते हैं और जिनकी संख्या वे दिन-पर-दिन अधिकाधिक बढ़ाते चले जा रहे हैं। आज के दिनों में एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो खड़ा होकर संसार के अविश्वासी लोगों को दिखा दे कि आज भी एक ऐसा महापुरुष है, जो संसार भर की सम्पत्ति तथा कीर्ति की तिल भर भी परवाह नहीं करता।[५६]

वर्तमान युग को एक ऐसे ही मनुष्य और ऐसे ही त्याग की आवश्यकता है। ...

अपना जीवन समर्पित कर दो। स्वयं को मानवता की सेवा में झोंक दो। उपदेशों की साकार प्रतिमूर्ति बन जाओ। यही त्याग है, केवल बातों से काम नहीं होता। उठो, और काम में लग जाओ। तब, तुम्हें देखते ही संसारी तथा लोभी व्यक्ति के मन में भय का संचार होगा। ...

खड़े हो जाओ और ईश्वर की उपलब्धि करो। यदि तुम काम तथा कांचन का पूरी तौर से त्याग कर सको, तो तुम्हें कुछ बोलने की जरूरत ही नहीं होगी। तब, तुम्हारे चरित्र का कमल खिल जायेगा और तुम्हारे भाव की सुरभि फैल जायेगी। जो कोई भी तुम्हारे पास आयेगा, वह तुम्हारी आध्यात्मिकता की ज्योति से प्रज्वलित हो उठेगा।

आधुनिक संसार के लिए श्रीरामकृष्ण का यही सन्देश है – मतवादों, आचारों, पन्थों तथा पूजा-स्थानों की चिन्ता मत करो। हर मनुष्य के भीतर जो आत्मा-रूपी सार-तत्त्व विद्यमान है, इसकी तुलना में ये सब तुच्छ हैं। मनुष्य के अन्दर यह भाव जितना ही अधिक अभिव्यक्त होता है, वह उतना ही विश्व-कल्याण के लिए सामर्थ्यवान हो जाता है। जिसके अन्दर यह सर्वाधिक अभिव्यक्त होता है, वह अपने मानव-भाइयों की सर्वाधिक सेवा कर सकता है। अत: सर्वप्रथम इसी धर्म-धन का उपार्जन करो ...। इसे वे ही समझ सकते हैं, जिन्हें अनुभव हुआ है। जिन्होंने धर्मलाभ कर लिया है, वे ही दूसरों में धर्मभाव संचारित कर सकते हैं, वे ही मनुष्य जाति के सर्वश्रेष्ठ आचार्य हो सकते हैं – केवल वे ही ज्योति की शक्ति हैं।

अत: ऐसे ही बनो। जिस देश में ऐसे मनुष्य जितनी अधिक संख्या में पैदा होंगे, वह देश उतनी ही उन्नत अवस्था को पहुँच जायेगा; और जिस देश में ऐसे मनुष्य बिल्कुल नहीं हैं, वह नष्ट हो जायेगा – वह किसी प्रकार नहीं बच सकता। अत: मेरे गुरुदेव का मानव-जाति के लिए यह सन्देश है कि 'पहले तुम लोग आध्यात्मिक बनो, पहले सत्य की उपलब्धि करो।' और सभी देशों के युवा तथा बलिष्ठ लोगों से वे कहते थे – त्याग करने का समय आ गया है। मानवता के कल्याण हेतु त्याग करो। तुम अपने मानव-भाइयों के प्रति प्रेम के बारे में इतनी बातें करते हो कि अब उसके केवल थोथे शब्द मात्र रह जाने की आशंका है। अब कार्य करने का समय आ गया है। उनका आह्वान है – कार्यक्षेत्र में कूद पड़ो और जगत् का उद्धार करो।[५७]

जब तक मैं पृथ्वी पर हूँ, श्रीरामकृष्ण मेरे माध्यम से कार्य कर रहे हैं।[५८]

दूसरे लोग व्यक्तिगत रूप से मुझसे स्नेह करते हैं, परन्तु वे नहीं जानते कि जिस वस्तु के लिए वे मुझसे प्रेम करते हैं, वह हैं श्रीरामकृष्ण; उनके बिना मैं एक निरर्थक स्वार्थपूर्ण भावनाओं का पिण्ड मात्र हूँ।[५९]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३७. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ६, पृ. २१०-१२; **३८.** वही, खण्ड ६, पृ. १८५; **३९.** वही, खण्ड ९, पृ. २६; **४०.** वही, खण्ड ४, पृ. ४०१; **४१.** वही, खण्ड २, पृ. ३६०-६१; **४२.** वही, खण्ड ७, पृ. २७१; **४३.** वही, खण्ड ६, पृ. २३२; **४४.** वही, खण्ड १०, पृ. १५३-५४; **४५.** वही, खण्ड ७, पृ. २५८-५९; **४६.** वही, खण्ड ५, पृ. १२८-२९०; **४७.** वही, खण्ड ३, पृ. ३३९; **४८.** वही, खण्ड ४, पृ. २२८; **४९.** वही, खण्ड ९, पृ. २६; **५०.** वही, खण्ड ९, पृ. २९; **५१.** वही, खण्ड ३, पृ. २६१; **५२.** वही, खण्ड ६, पृ. १६८; **५३.** वही, खण्ड ६, पृ. १६९; **५४.** वही, खण्ड ९, पृ. २४८; **५५.** वही, खण्ड ४, पृ. ३२३; **५६.** वही, खण्ड ७, पृ. २६४-६५; **५७.** Swami Vivekananda in the West : New Discoveries, Advaita Ashrama, 1999, Vol 3, P. 537-38 तथा विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ७, पृ. २६७-६८; **५८.** वही, खण्ड ४, पृ. ३१९; **५९.** वही, खण्ड ८, पृ. ३०७
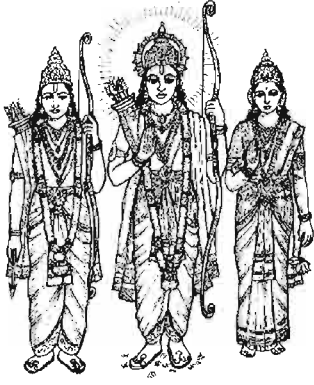
साधना, शरणागति और कृपा (९/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(निम्नलिखित प्रवचन पण्डितजी द्वारा रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में ३१ जनवरी से ५ फरवरी १९९४ ई. तक प्रदत्त हुआ था। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ इसे टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

सुतीक्ष्णजी प्रभु की ओर चले। पर अब साधना का क्रम बदल गया। – कैसे? – जब वे चले, तो इतना आनन्द आया कि फिर धीरे-धीरे वे नाचने लगे –

कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई।
कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई।। ३/१०/१२

इतना आनन्द आ गया कि वे प्रभु का गुणगान करते हुए नाचने लगे। नाचते-नाचते फिर बैठ गए, भगवान की ओर गये ही नहीं। एकदम स्थिर वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं –

मुनि मग माझ अचल होइ बैसा।
पुलक सरीर पनस फल जैसा।। ३/१०/१५

क्या संकेत है? चले थे स्वागत करने, परन्तु बीच में बैठ क्यों गये? – जब तक चलने वाला था, तब तक चल रहे थे। पर थोड़ी देर में अब क्या दशा हो गई? जब आप कहीं चलेंगे, तो आपको पता होगा कि किस दिशा में जाना है। उनको दिशाएँ दिखनी बन्द हो गयीं। पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण – कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा है। फिर मार्ग भी दिखाई देना बन्द हो गया। न दिशाएँ दिखाई दे रहीं हैं, न विदिशाएँ और न मार्ग ही दिखाई दे रहा है, पर अन्तिम बात आती है – यह भी भूल गये कि 'मैं' कौन हूँ –

दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा।
को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा।। ३/१०/११

इसमें संकेत यह था कि जब तक 'मैं' की स्मृति है, तब तक भगवान की ओर दौड़ो, साधना करो, पर 'मैं' ही नहीं होगा तो चलनेवाला कौन होगा, दौड़नेवाला कौन होगा? इसीलिए गोस्वामीजी साधना का क्रम बताते हैं। साधना के क्रम को न भुला दिया जाय। साधना की दिशा का ज्ञान करना आवश्यक है। पथ के विषय में जानना आवश्यक है, परन्तु एक स्थिति ऐसी आती है कि न किसी दिशा का ज्ञान है, न किसी विदिशा का ज्ञान है और न मार्ग का, यह स्थिति तब आयी, जब 'मैं' का बिल्कुल अभाव हो गया।

बड़ी मीठी बात, यह भी याद नहीं रहा कि मैं किसके पास जा रहा था। भगवान को भी भूल गये। बड़ी विचित्र-सी बात है। जिन भगवान का स्वागत करने के लिये चले, उन्हीं का ध्यान नहीं रह गया। ध्यान रहना भी तो मन-बुद्धि के बिना सम्भव नहीं है, मैं के बिना सम्भव नहीं है। जब 'मैं' ही नहीं है, तो कोई कुछ नहीं रह गया। बात बहुत बढ़िया है। भगवान की याद न रखनेवाले तो बहुत लोग हैं, हम अधिकांश उसी श्रेणी के हैं। पर ये अनोखे थे, वे भगवान को भूल गये, उनका स्वागत करना भी भूल गये। दौड़ना भी भूल गये। वहीं बैठ गये। और तब नई बात हो गई – भगवान स्वयं ही चलकर उनके हृदय में आ गये –

अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा।
प्रगटे हृदय हरन भव भीरा।। ३/१०/१४

भगवान का संकेत यह है कि जब तक तुम चल सको, चलो और जब तुम्हारा चलना छूट जायेगा, तो मैं चलूँगा। दादूजी से किसी ने पूछ दिया – "आज माला दिखाई नहीं दे रही है। जप नहीं करते हैं क्या?" बोले – "अब तो मैं न माला से जप करता हूँ, न हाथ की अंगुलियों से, न जिह्वा से। एक अन्य सज्जन हैं, जो मेरे बदले जप करते हैं।" – – तो अब कौन जप करता है आपके लिए? बोले – अब तो हरि ही मेरा नाम जपते हैं –

माला जपौं न कर जपौं जिह्वा जपौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करैं, मैं पावा बिश्राम।।

तो वह स्थिति आ जाना कि जब भगवान को ही पहुँचने का साधन करना है, उनको ही चलकर आना है और जगाना है। वे आकर जगाते हैं – "अरे भाई, तुम तो मेरा स्वागत करने के लिए आनेवाले थे! अच्छे स्वागत करनेवाले हो, ऐसे बैठ गये हो।" विनोद में कह रहे हैं। भगवान व्याकुल होकर जगा रहे हैं, किसी तरह यह आँखें खोलकर मुझे देखे तो सही। जब नेत्र नहीं खोला, नहीं देखा, तो उन्होंने एक युक्ति का प्रयोग किया। हृदय में जो उन्हें साक्षात्कार हो रहा था उसको लुप्त कर दिया, तब नेत्र खुला और तब भगवान ने उन्हें हृदय से लगा लिया।

साधना के क्रम में एक ऐसी स्थिति आती है कि अहं का सर्वथा अभाव हो जाता है। 'मैं' नहीं रहा, मैं के बिना तो कोई साधना होती नहीं है। जनक जब यह कहते हैं कि धनुष टूट गया, तो उसका अभिप्राय है कि जब मैं ही नहीं तो मेरी पुत्री, उसका विवाह, कैसे हो, कहाँ हो, यह प्रश्न ही समाप्त

हो गया। मैं कृतकृत्य हूँ। इसलिए धन्यवाद उन्होंने केवल श्रीराम को ही नहीं, लक्ष्मणजी को भी दिया कि यदि ये मुझे न फटकारते तो मैं बड़ा भ्रम में पड़ा रह जाता। भरी सभा में जनक जैसे तत्वज्ञ को एक छोटी आयु के बालक ने फटकारा और उन्होंने कृतज्ञतापूर्वक यही कहा – मुझे दोनों भाइयों ने कृतकृत्य कर दिया। उसके बाद बड़ी मीठी बात आई। बोले – अब बताइये, मैं क्या करूँ? –

मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहूँ भाईं।
अब जो उचित सो कहिअ गोसाईं ।। १/२८६/६

पढ़कर विचित्र लगता है। जब कृतकृत्य हो गये तो यह क्या पूछना कि मैं क्या करूँ? तब यह सूत्र मिला कि जनक जैसे जीवन्मुक्त महापुरुष, जो अहं से मुक्त हो गये हैं, कृतकृत्य हो गये हैं, उनसे विश्वामित्रजी कहते है –

टूटतहीं धनु भयउ बिबाहू ।। १/२८६/८

विवाह तो पूरा हो गया। पर तुम अयोध्या दूत भेजो, दशरथजी को पत्र भेजो, बारात बुलाओ और तब मण्डप में विवाह करो। मानो अभिप्राय है कि तुम तो कृतकृत्य हो गये, पर सबको कृतकृत्य बनाओ, तभी तो लोग तुम्हारे द्वारा धन्य होंगे। एक सूत्र और आता है – जनकपुर-वासिनी स्त्रियाँ भी चाहतीं कि यह विवाह हो जाय। क्योंकि विवाह हो जाने के बाद जितने लोग हैं, सभी कृतकृत्य हो जायेंगे –

जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू ।
तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू ।। १/२२२/७

तो एक महापुरुष वह है, जो कृतकृत्य होकर स्वयं में स्थित है; और दूसरे महापुरुष वे हैं, जो कृतकृत्य होने के बाद भी उनके द्वारा लोक-कल्याण के कार्य होते हुए दिखाई देते हैं। इसी का संकेत जनकजी के जीवन में मिलता है।

महाराज मनु अभी विचार की स्थिति में है। उनके जीवन में एक सात्त्विक अभिमान है और उसके साथ-साथ वे जिस पथ पर चलते हैं, वह साधना का पथ है। और मानो मानव-जाति के लिये और अधिकांश लोगों के लिये धीरे-धीरे क्रमशः साधना का पथ है। व्यक्ति यदि अचानक ही एक निश्चय कर ले, तो शायद वह उसमें दृढ़ न रह सके। महाराज मनु के जीवन में पहले धर्म का पालन दीख पड़ता है, जिसके फलस्वरूप उनके जीवन में वैराग्य भले ही न आया हो, पर एक प्रकार का विचार आया और उनको एक विचारजन्य दु:ख का अनुभव हुआ। तब उस दु:ख ने उन्हें प्रेरित किया कि उन्हें ईश्वर को पाना है। उन्हें इस सत्य का अनभुव हुआ कि उनके जीवन का चरम लक्ष्य ईश्वर को पाना है। वे मुक्ति मार्ग के पथिक नहीं बन सकते। वे वैराग्य के द्वारा ज्ञान और ज्ञान के द्वारा ईश्वर को पाकर मुक्त नहीं होंगे। तब उन्होंने जो मार्ग चुना, उसे मध्य-मार्ग कहते हैं। उन्होंने राज्य का, सम्पत्ति का त्याग कर दिया और पुत्र को सिंहासन पर बिठा दिया। दोनों ओर सन्तुलन है।

पिता देने में आनाकानी करे और पुत्र लेने को बेचैन हो जाय। पिता भी बेचारे बेटे को देने में इसलिए आनाकानी करते हैं कि लेने के बाद पिता का ध्यान भी नहीं रहता। वे बेचारे सोचते हैं कि यदि हम अभी से दे देंगे, तो हमारा क्या होगा ! दोनों जब अपनी-अपनी मर्यादा छोड़ दें, तो समाज में अर्थ का संघर्ष होना स्वाभाविक है। पर यहाँ बड़ा सन्तुलन है। महाराज मनु निश्चय कर चुके हैं कि अब मुझे राज-सिंहासन पर नहीं रहना है। अब मुझे निश्चित रूप से ईश्वर को प्राप्त करने के लिए चलना है। राज्य उन्होंने पुत्र को दिया। लेकिन उन्होंने वैराग्य की स्थिति न होने के कारण महारानी सतरूपा को भी साथ ले लिया। राज्य का परित्याग कर देने पर भी महारानी सतरूपा और महाराज मनु – दोनों साथ में हैं। पर अब वे पति-पत्नी के धर्म के रूप में साथ नहीं हैं।

बड़ी अनोखी बात आती है – जब सतीजी ने पार्वतीजी के रूप में जन्म लिया और भगवान शंकर से उनका विवाह हुआ, तो एक दिन शंकरजी ने कथा-प्रसंग में कहा – सुनहु सती। शंकरजी ने ज्योंही उन्हें सती कहकर सम्बोधित किया, तो पार्वती चौंक पड़ीं – कथा सुनते समय मुझे कोई नींद या झपकी तो नहीं आ गई, कोई असावधानी तो नहीं हो गई, मेरा पूर्वजन्म का नाम क्यों ले रहे हैं? पूर्वजन्म में तो मुझमें बड़े दोष थे। परन्तु शंकरजी ने कहा कि पूर्वजन्म में संसार वाले जो तुम्हारा नाम लेते थे वह नाम मुझे आज सही लग रहा है। सती शब्द पतिव्रता के लिये कहा जा सकता है। जो महान् पतिव्रता नारी होती है, उन्हें सती कहा जाता है। तो पूर्वजन्म में तो उनका नाम सती था, पर भगवान शंकर ने नई बात कही कि लोकदृष्टि से तुम मेरे प्रति समर्पित थी, तो लोगों ने तुम्हें सती कह दिया, पर मेरी दृष्टि में तो तुम सती आज हो। – क्यों? बोले – राम की कथा में तुम इतनी डूब गई हो, कि तुम्हें देखकर मुझे लगा कि सही अर्थों में सती तुम आज हो, क्योंकि सती तो उसी को कहते हैं, जो मन-वचन-कर्म से पति के साथ एकाकार हो गई हो। मेरा मन भगवान के चरणों में रहे और तुम्हारा मन मेरे चरणों में रहे, तो वह हमारे लिये सती की परिभाषा नहीं है। अब जब हम दोनों का ही लक्ष्य भगवान का ही चरण है, इसलिए मेरी दृष्टि में तुम वास्तविक सती हो –

धन्य सती पावन मति तोरी ।
रघुपति चरन प्रीति नहिं थोरी ।। ७/५५/७

आज शतरूपा मनु की पतिव्रता पत्नी के रूप में, पत्नी के उस धर्म के नाते साथ में नहीं जा रही हैं। भगवान को पाने की जितनी आकुल आकांक्षा मनु के मन में है, उतनी ही तीव्र आकांक्षा शतरूपाजी के मन में भी है। दोनों का लक्ष्य समान है। इसी नाते उन्हें इस मार्ग पर साथ चलना बड़ा

उपयुक्त प्रतीत हुआ। देखने में तो लग रहा है कि पत्नी को साथ में लेकर जा रहे हैं, पर दोनों एक विशेष लक्ष्य के लिये एक ही पथ के पथिक होकर जा रहे हैं। दोनों एक साथ जा रहे हैं। गोस्वामीजी से पूछा गया – साधना के पथ पर तो अकेले जाना पड़ता है, फिर ये दो कैसे? तो गोस्वामीजी ने एक उपमा देकर साधना का बड़ा सुन्दर संकेत दिया। साधना के पथ पर चलते हुए उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मनु मानो मूर्तिमान ज्ञान है और शतरूपा मूर्तिमान भक्ति हैं –

पंथ जात सोहहिं मतिधीरा।
ग्यान भगति जनु धरें सरीरा।। १/१४३/४

ज्ञान माने साधन-ज्ञान और भक्ति माने साधन-भक्ति। और यही साधना का महान् तत्त्व है। जो अकेले चल रहा है, उसके लिये भी तो भीतर से दो होना ही चाहिए। उसके बिना साधना की समग्रता नहीं आ सकती। अब तक वे कर्ममार्ग से चल रहे थे, परन्तु ज्ञान तथा भक्ति के सामंजस्य के बिना उनकी साधना-पद्धति पूर्ण नहीं हो सकती।

कई लोग ऐसे हैं जो केवल ज्ञान के आग्रही हैं। ज्ञान को छोड़कर और कुछ भी न तो उन्हें सुनना है और न समझना है। उसको वे आवश्यक नहीं मानते। फिर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सोचते हैं कि भक्ति को छोड़कर अन्य किसी से हमें क्या लेना-देना? ज्ञान से हमें क्या लेना-देना? पर यहाँ संकेत दिया गया कि ज्ञान और भक्ति में से एक को स्वीकार और एक को अस्वीकार कर देना, एक क्षणिक भावुकता हो सकती है या विचार का अतिरेक हो सकता है, परन्तु दोनों का सांमजस्य तो होना ही चाहिए।

अब इस पर विचार करके देखें – आप जो कर्म करते हैं, वह शरीर से करते हैं और शरीर जीवित रखने के लिए जो रक्त-प्रवाह चाहिए, वह आपको हृदय से मिलता है। फिर आपके कर्म को संचालित करनेवाली क्षमता का केन्द्र मस्तिष्क में है। यदि पूछा जाय कि हृदय उपयोगी है या मस्तिष्क? तो बड़ी सीधी बात है। हृदय काम करना बन्द कर दे, तब तो व्यक्ति ही समाप्त हो गया। तो भक्ति हृदय का धर्म है। जिस व्यक्ति के हृदय में भक्ति नहीं है, वह शव है –

जिन्ह हरिभगति हृदयँ नहिं आनी।
जीवत सव समान तेइ प्रानी।। १/११२/५

दूसरी ओर किसी व्यक्ति का रक्तप्रवाह बिलकुल ठीक हो, शरीर बिल्कुल स्वस्थ हो, पर मस्तिष्क ठीक न हो, तो लोग कहेंगे कि यह मनुष्य तो है, मगर पागल है। यदि विचार का अतिरेक हो और भावना का तिरस्कार हो, तो यह सर्वथा अधूरी दृष्टि है; और केवल भावना-ही-भावना हो, विचार न हो, तो भी अधूरा है। अत: **भक्ति और ज्ञान – दोनों का सांमजस्य ही साधना का महानतम सूत्र है।**

अब विचार करके देखें कि जब एक मूर्तिकार जब मूर्ति बनाने के लिए छेनी और हथौड़े का प्रयोग करता है, तो वह कर्म है। यदि किसी के सामने छेनी-हथौड़ी और संगमरमर का एक बड़ा पत्थर रख दिया जाय और कहा जाय कि आप किसी सुन्दर-से-सुन्दर मूर्ति का आप ध्यान कीजिए। तो वह ध्यान कर सकता है, क्योंकि उसने चित्र में देखा है, मन्दिर में देखा है। किन्तु जब उससे कहा जायगा कि आपके ध्यान में जो है, उसे इस पत्थर में उकेर दीजिए, तो उस बिचारे के हाथ-पाँव फूल जायेंगे। यदि वह छेनी-हथौड़ी चलाये भी, तो भले ही पत्थर के टुकड़े-टुकड़े कर दे, पर उस कल्पना को साकार करने की क्षमता उसमें नहीं है।

शिल्पकार या मूर्ति बनानेवाला केवल मूर्तिकला पण्डित ही न हो, उसके हृदय में भी वह रूप पहले से अभिव्यक्त होना चाहिये। पहले भगवान हृदय में प्रगट होंगे या बाहर? रावण जैसे व्यक्तियों के लिये बाहर भगवान प्रगट हुए, पर भीतर प्रगट नहीं हुए, वे भगवान को भगवान समझ नहीं सके। भगवान को पहले हृदय में प्रगट होना चाहिये। एक शिल्पकार के हृदय में मूर्ति जब कल्पना के रूप में आयेगी, तभी वह मनोयोग के द्वारा अपने अन्त:करण में आये हुए कल्पित रूप को मूर्ति में उकेर देगा। मूर्ति जब बन जाती है, तो वह बड़ी सुन्दर दिखती है। आप जयपुर में जाकर देखेंगे – कितनी ही मूर्तियाँ बनी हुई रखी हैं, कितनी ही मूर्तियाँ कीमत देकर ली-दी जा रही हैं, सब कुछ है। परन्तु जब कोई व्यक्ति उस मूर्ति को ले आता है, तो कहा जाता है कि मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा कीजिए। प्राण-प्रतिष्ठा का क्या अभिप्राय है? यदि आप केवल मूर्ति को देखें, तो लगेगा कि वह बड़ी सुन्दर बनी हुई है, आपको ध्यान आयेगा कि इसे किसने बनाया। आप बहुत अर्थपरक दृष्टिवाले हुए तो पूछ लेंगे कि कितने रुपये में लाये? यही सब। परन्तु जब आप प्राण-प्रतिष्ठा के बाद मूर्ति का दर्शन करते हैं, तब यह नहीं पूछते कि यह मूर्ति कितने में लाए? ऐसा कोई पूछते हों, तो उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ। ऐसे लोग भी हो सकते हैं, पर यह तो बड़ी अभद्रता है। जब आपके सामने भगवान हैं, तो अब आप भगवान को कितने रुपये में खरीदकर लायेंगे।

श्रीरामकृष्णदेव के जीवन में कितनी दिव्य भावना है! रानी रासमणि ने भगवान कृष्ण की जो मूर्ति स्थापित की थी, उसका चरण किसी की असावधानी से खण्डित हो गया। जब पण्डितों से पूछा गया, तो उन्होंने यही कहा कि खण्डित मूर्ति का पूजन नहीं करना चाहिए, उसे नदी में विसर्जित कर देना चाहिए। इसका व्यावहारिक अर्थ है कि लोग मूर्ति को खण्डित देखेंगे, तो उनकी श्रद्धा नहीं बनेगी, इसलिए शास्त्र ने उसे वैसा कहा। लेकिन जब रानी रासमणि ने भगवान श्रीरामकृष्ण से पूछा, तो उन्होंने कहा कि यदि तेरे दामाद का पैर टूट जाय, तो क्या तू उसे नदी में फेंक देगी? श्रीरामकृष्ण

के लिए वह मूर्ति नहीं है, वह तो साक्षात् श्रीकृष्ण हैं। बिना भाव के मूर्ति में ऐसा प्राण दिखाई देगा क्या? यदि कोई व्यक्ति भावनाशून्य है, यदि उसमें भक्ति नहीं है, तो वह पूजा का श्रीगणेश है, मूर्तिपूजा की प्रथम कक्षा है। मूर्तिपूजा भक्ति -साधना की अन्तिम कक्षा है। मूर्तिपूजा सारी साधनाओं की चरम परिणति है। यह सूत्र आप ध्यान में रखिए। मूर्तिपूजा ही पहली कक्षा है और मूर्तिपूजा ही अन्तिम कक्षा है।

सीताजी ने पुष्पवाटिका में पार्वती का पूजन किया। यह पहली कक्षा है, प्रारम्भ है। माँ बोली – योग्य वर पाने के लिये कन्याओं को देवी का पूजन करना चाहिए। सीताजी माँ की आज्ञा का पालन करती हैं। वे स्नान करके जाती हैं और पार्वतीजी का पूजन करती हैं। फिर मूर्तिपूजा की पराकाष्ठा क्या हुई? वे उसी वाटिका में लीला का एक सत्य प्रगट करना चाहती थीं, बोलीं – मुझे मेरे योग्य वर प्राप्त हो –

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।
निज अनुरूप सुभग बरु मांगा ।। १/२२८/६

जैसे संसार में कन्याएँ माँगती हैं, वैसे ही सीताजी ने भी माँगा। बस, पूजा पूरी हो गई। पर अगला तत्त्व क्या है? इसके बाद भगवान के रूप का वर्णन, दर्शन की व्याकुलता, भगवान राम का अन्वेषण और भगवान राम को देखने के बाद आपको मूर्तिपूजा का दूसरा रूप मिलेगा। बोले –

गई भवानी भवन बहोरी।
बंदि चरन बोली कर जोरी ।।
जय जय गिरबर राज किसोरी।
जय महेस मुख चंद चकोरी ।।
जय गजबदन षडानन माता।
जगत जननि दामिनि दुति गाता ।। १/२३५/४-६

अगला वाक्य जरा ध्यान से पढ़िये। स्तुति किया, लेकिन अन्त में क्या हुआ। पहली बार पूजा किया, तो सीताजी बोली थीं, परन्तु उधर से स्वर नहीं आया था। परन्तु इस पूजा में – उत्तर में माला खिसकी, मूर्ति मुस्कुराई –

बिनय प्रेम बस भई भवानी।
खसी माल मूरति मुसुकानी ।। १/२३६/५

मूर्तिपूजा का प्रारम्भ तब है, जब आप बोलें और भगवान न बोलें; और अन्त तब है, जब भगवान बोलने लगें अर्थात् साक्षात् चैतन्य होकर सचमुच दिखाई देने लगें। इसलिए गोस्वामीजी प्रह्लाद को ही सबसे बड़ा भक्त मानते हैं। उनसे बड़ा भक्त कोई नहीं है। क्यों? बोले – भाषणों में कहा जाता है और शास्त्रों में लिखा है कि ईश्वर सर्वव्यापी है। परन्तु इस बात को कहने का सच्चा अधिकार केवल प्रह्लाद को है।

प्रेम बदौं प्रहलादहि को
जिन पाहन तें परमेश्वरु काढ़े ।। (कविता., १२७)

– ऐसा क्यों? बोले – खम्भे में बँधे हुए प्रह्लाद की ओर देखते हुए जब हिरण्यकशिपु पूछता है कि तेरा वह राम कहाँ है? तो प्रह्लाद कहते हैं – सर्वत्र। उन्होंने जो उत्तर दिया, वह तो सब हम दुहरा सकते हैं। पर हिरण्यकशिपु कहता है – क्या इस खम्भे में तेरा राम है? उसका व्यंग्य यह था कि यदि तेरा ईश्वर इस खम्भे में होता, तो जब मैं तुम्हें इससे बाँधने लगा, तब तो वह रोकता न! प्रह्लाद रस्सी के द्वारा खम्भे से बँधे हुए हैं।

हिरण्यकशिपु के हाथ में कृपाण है। तलवार को कृपाण कहते हैं। सचमुच, वह कृपाण था, उसमें कृपा का अभाव था। पिता बड़ा भयानक है, अपने पुत्र का वध करने के लिये प्रस्तुत है। प्रह्लाद खड़े हैं। भागने की कोई चेष्टा नहीं है –

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ,
पितु काल कराल बिलोकु न भागे ।। क. १२८

पूछा – राम कहाँ है? बोले – सर्वत्र है। पूछता है – खम्भ में? बोले – हाँ। भगवान थे, पर कब तक प्रगट नहीं हुए? जब तक भक्त ने 'हाँ' नहीं कह दिया। भक्त के 'हाँ' में शक्ति थी। ईश्वर था, पर सोया हुआ था। यह मानो साहित्यिक भाषा है – ईश्वर सबके हृदय में है, पर सोया हुआ है। इसी कारण तो हम लोगों के हृदय में सब कुछ हो रहा है। जगा होता, तो क्या हमारे हृदय में बुराइयों को घुसने देता, कटुता को पैठने देता। इसलिए कहा – सो रहा है। तो अभी तक नृसिंह भगवान खम्भे में सो रहे हैं। जगे कब? प्रह्लाद ने ज्यों ही कहा – हाँ हैं, तो सचमुच प्रगट हो गये –

'राम कहाँ?' 'सब ठाऊँ हैं', 'खम्भ में?'
'हाँ' – सुनि हाँक नृकेहरि जागे ।।

प्रगट होकर उन्होंने हिरण्यकशिपु का संहार कर दिया। उस भयावने रूप को देखकर सारा विश्व काँपने लगा। अब उन्हें शान्त करने कौन उनके सामने जाय। देवताओं ने शंकरजी से कहा – आप उन्हें प्रसन्न कर लीजिए। बोले – उस प्रह्लाद को भेजो, जिसकी भावना से भगवान प्रगट हुए हैं, उनको तो वही प्रसन्न कर सकता है। प्रह्लाद मुस्कुराते हुए बिना किसी डर के उनकी गोद में चले गये। जैसे पशु अपनी जिह्वा से अपने बच्चे को चाटता है, वैसे ही भगवान उन्हें चाटने लगे। क्रोध को भूल गये और बड़े स्नेह से प्रह्लाद को प्रसन्न करने लगे। गोस्वामीजी से किसी ने पूछा – मूर्तिपूजा कब से प्रारम्भ हुई? कई लोग खोज करते रहते हैं। प्रह्लाद ने भगवान को पत्थर से प्रगट करके दिखला दिया, अत: लोगों ने कहा – हम पत्थर में भी भगवान का रूप देखते हैं –

बैरि बिदारि भए बिकराल,
कहें प्रह्लादहिकें अनुरागे ।।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी
तबतें सब पाहन पूजन लागे ।। कविता. १२८

मूर्तिपूजा की पहली कक्षा में हम उस मूर्ति में पहले तो

उसे स्थूल रूप में देखते हैं, पर बाद में जब कहा गया कि ईश्वर यदि सर्वव्यापी है, तो दिखाइए। तो प्रह्लाद ने इसे सत्य करके दिखला दिया।

प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन
पाहन तें परमेश्वरु काढ़े ।। (कविता., १२७)

ईश्वर सर्वव्यापक है, यह तो ज्ञान है, पर उसको हम अपनी भावना के द्वारा रूप देते हैं। भावना के द्वारा आकृति देते हैं। शिल्पकार रूप और आकृति की अपनी भावना के अनुसार एक ही पत्थर से चाहे नृसिंह भगवान की मूर्ति बना दे, विष्णु भगवान की मूर्ति बना दे, कृष्ण की मूर्ति बना दे या राम की मूर्ति बना दे। मूर्तियाँ आपको अलग-अलग लगेंगी, कोई डरावनी लगेगी, कोई मधुर या सुन्दर लगेगी, परन्तु इसके द्वारा ईश्वर वस्तुतः निराकार से साकार होगा, निर्गुण से सगुण होगा। गोस्वामीजी के पास यह प्रश्न बार-बार आता था, तो वे कहा करते थे कि दोनों की आवश्यकता है, पर व्याख्या उन्होंने कई दृष्टान्तों के द्वारा की। बोले – निर्गुण सगुण क्या है? दृष्टान्त उन्होंने बिल्कुल व्यावहारिक दिया। मनिआर्डर करते समय या किसी को धन देते समय जब आप कागज में लिखा-पढ़ी करते हैं, तो रुपये को पहले आप अंक में लिखते हैं, फिर उसी को आप बगल में अक्षर में लिखते हैं। पहले १००० लिखेंगे, फिर – एक हजार।

जब आपने अंक में लिख दिया, तो उसके बाद फिर अक्षर में क्यों लिखते हैं? बोले – अंक में डर यह है कि कोई घटा या बढ़ा न दे। पर अक्षर में लिख दिया, तो निश्चिन्त हो गये। गोस्वामीजी कहते हैं – निर्गुण-निराकार अंक है, लेकिन जब तक सगुण-साकार के रूप में अक्षर में नहीं दिखाएँगे, तब तक सन्देह नहीं मिटेगा। पूरी दृढ़ता के लिये जरूरी है कि अंक के बगल में अक्षर में भी लिखें।

अंक अगुन आखर सगुन ।।

सुना – ईश्वर सर्वत्र है, मानने पर भी सन्देह बना हुआ है। किसी भक्त ने प्रगट करके दिखा दिया, तो सन्देह मिट गया।

ग्यान भक्ति जनु धरे सरीरा ।

मनु के जीवन में पहले पुरुषार्थ का उद्देश्य दूसरा था, अब साधना में पुरुषार्थ का उद्देश्य भिन्न हो गया। उनकी साधना में ज्ञान और भक्ति – इन दोनों का सामंजस्य है। मनु केवल अपनी मुक्ति के लिये नहीं जा रहे थे। वे भगवान को अवतरित करना चाहते हैं, ईश्वर को साकार बनाना चाहते हैं, उनका उद्देश्य अपने समस्त मानव सन्तानों का कल्याण है। उनके जीवन में जो कल्याण की वृत्ति है, उसका क्रम यही है कि जब तक ज्ञान तथा भक्ति का सामंजस्य न हो, तब तक साकार तथा निराकार – दोनों का दिव्य तत्त्व अभिव्यक्त नहीं हो सकता। साधना के क्रम से वे मुनियों के पास जाते हैं। मुनियों ने सुना कि मनु आए हैं, तो स्वागत करने आये। पहले जब वे राजा थे, तब भी आते थे।

एक प्रसिद्ध आख्यान है रतनगढ़ के राजा यशवंत सिंह पहले वृन्दावन आया करते थे। बड़े भक्तहृदय थे। बाद में भगवान कृष्ण पर कविताएँ भी लिखा करते थे। एक दिन वे राज्य छोड़कर वृन्दावन धाम आये, तो किसी ने कहा कि रतनगढ़ के महाराज यशवंत सिंह आए हुए थे, तो किसी ने ध्यान नहीं दिया। यह तो प्रवृत्ति की बात है। कई बार व्यक्ति बहुत बड़े राजा या पदाधिकारी का नाम सुनकर अति उत्साहित हो जाता है। पर विरागी-त्यागी सन्तों की परम्परा बड़ी भिन्न रही है। किसी ने कह दिया – नागरीदासजी आए हुए हैं, तो सन्त दौड़ पड़े। उन्होंने अपनी कविता में लिखा –

सुनि व्यवहारिक नाम मम ठाढ़े द्वारि निरास ।
भए प्रेमयुत ते सबहि, सुनत नागरीदास ।।

हमारे दूसरे सन्त हुए हैं कुम्भनदासजी। वे बृज में रहते थे। अकबर ने उनकी प्रशंसा सुनी, तो किसी से आग्रह किया कि उनको बुलाकर लाओ। शासक ने बुलवाया, तो चले भी गये। अकबर तब फतहपुर सीकरी में रहता था। कुम्भनदासजी लौटकर आए तो लोगों ने पूछा – अकबर इतना बड़ा राजा, उसने आपका क्या सत्कार किया? तो वे बोले – भक्तों के लिये राजधानी में क्या रखा है! दरबारियों ने कहा कि यहाँ तो सबके लिये राजा को प्रणाम करने का नियम है। जूते अलग टूट गये, भगवान का नाम भी भूल गया –

भगतन को कहाँ सीकरी सों काम ।
आवत जात पनहिया टूटी, बिसरि गयो हरिनाम ।।
जाको मुख देखे दुख लागत ताको करिबो परी सलाम ।
कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु, और सबै बेकाम ।।

भक्त निरपेक्ष है। जिसको पाना है उसका तो ध्यान रखना होगा, जिसको नहीं पाना है उसकी ओर दृष्टि नहीं है। तो मनु पहले राजा के रूप में आते थे, तो मुनियों के आश्रम में जाते थे, परन्तु आज मुनि लोग स्वयं चले आए। भक्तिभाव से ओतप्रोत महात्माओं को जब लगता है कि वे राज्य छोड़कर भगवत्प्राप्ति के लिए आए हुए हैं, तो वे सम्मान के पात्र हैं।

उनका मुनियों से मिलन होता है, सत्संग होता है, तीर्थयात्रा होती है, कथा-श्रवण होता है, जप होता है। उनकी यह साधना क्रम से आगे बढ़ती गई और अन्ततः कृपा-तत्त्व को प्राप्त कराने में सक्षम होती है। ❑

❖ (क्रमशः) ❖

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४ वें सूक्त की ४६ वीं ऋचा कहती है – **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।** इसका अर्थ है – "जिसे लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं, वह सत्ता केवल एक ही है, ऋषि लोग उसे भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।"

इस ऋचा के द्वारा जो सत्य प्रकट हुआ है, भारतीय जीवन-पद्धति पर उसके बड़े ही दूरगामी प्रभाव पड़े हैं। इस सत्य ने एक साँचे का काम किया है, जिसमें भारतवासी अपने जीवन को ढालने की चेष्टा करते रहे हैं। इस ऋचा ने हमारी रगों में उदारता का रक्त बहाया है – ऐसी उदारता, जो विश्व के अन्य किसी धर्म में हमें नहीं मिलती। इस सत्य की शिक्षा का ही परिणाम है कि हिन्दू ने धर्म के नाम पर कभी खून-खराबी नहीं की।

कुछ लोगों ने उक्त ऋचा में 'बहुदेववाद' देखा है, वे कहते हैं कि हिन्दू Polytheistic यानी 'बहुदेववादी' हैं। वस्तुतः उन्होंने ऋचा के मर्म को नहीं जाना। प्रोफेसर मैक्समूलर ने हिन्दुओं के इस दृष्टिकोण के लिए एक नये नाम की रचना की है। वे कहते हैं कि यह दृष्टिभंगी हिन्दुओं की विशेषता है। वे इसे 'हेनोथिज्म' (Henotheism) कहकर पुकारते हैं। इसका अर्थ है – अनेक देवताओं में से एक को सर्वप्रधान मानकर उसकी पूजा करना। मैक्समूलर का यह चिन्तन भले ही पूर्वोक्त विचार की तुलना में काफी आगे गया हुआ है, तो भी वह पूरे सत्य को व्यक्त नहीं करता। वे भी इस ऋचा में कहे गये सत्य की सूक्ष्मता को पूरी तरह से नहीं पकड़ पाते। आइए, उस सत्य को समझने की चेष्टा करें।

ऋग्वेद में हम देखते हैं कि वहाँ एक के बाद दूसरे देवता लिये गये हैं, उन्हें ऊपर उठाया गया है, उनकी महिमा और प्रभुता की क्रमशः वृद्धि की गयी है और अन्त में उनमें से प्रत्येक को विश्व के उस अनन्त सगुण ईश्वर की पदवी पर बिठा दिया गया है। इसीलिए 'बहुदेववाद' या 'हेनोथिज्म' का भ्रम होता है। पर हकीकत क्या है? यह जानने के लिए दूसरे धर्मों की पौराणिक कथाओं की ओर दृष्टिपात करना हमारे लिए लाभदायक रहेगा। बाबिल या यूनान देश की पौराणिक कथाओं में हम देखते हैं कि एक देवता आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और एक उच्च अवस्था में पहुँचकर वहीं जम जाता है तथा दूसरे देवता लुप्त हो जाते हैं। 'मोलोकों' में 'जिहोवा' सबसे श्रेष्ठ बन जाता है और अन्य सब 'मोलोक' भुला दिये जाते हैं, सदा के लिए लुप्त हो जाते हैं, 'जिहोवा' देवाधिदेव के आसन पर विराजमान हो जाता है। इसी तरह यूनानी देवताओं में 'जिउस' नामक देवता प्राधान्य लाभ करता है और उत्तरोत्तर अधिकाधिक महिमान्वित होता हुआ अन्त में विश्वविधाता के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है, अन्य सभी देवता क्षीणप्रभ होकर साधारण देवदूतों की श्रेणी में समाविष्ट हो जाते हैं। यह तो वैसा ही हुआ जैसे एक राजा एक दूसरे के द्वारा विजित कर लिया गया, इससे विजेता राजाधिराज के सिंहासन पर जा बैठा और विजित उसके मातहत हो गया। समस्त संसार के धर्मेतिहास में यही प्रणाली प्रचलित है।

कोई पूछ सकता है कि क्या वेदों में भी इस प्रणाली का अनुसरण नहीं किया गया? एक कबीले ने दूसरे पर आक्रमण कर उसे गुलाम बना लिया, फलस्वरूप विजेता कबीले का देवता सबसे ऊँचे आसन पर जा बैठा और हारे हुए कबीले के देवता की फजीहत हो गयी? नहीं, वैदिक देवताओं की ऐसी प्रणाली नहीं रही। वेदों में हम मानो इसका अपवाद पाते हैं। यहाँ किसी एक देवता की स्तुति की जाती है और उस समय तक यह कहा जाता है कि अन्य सब देवता उसकी आज्ञाओं का पालन करते हैं, और जिस देवता के वरुण द्वारा बढ़ाये जाने की बात कही गयी है, वह स्वयं ही दूसरे मण्डल में सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया जाता है। बारी-बारी से ये देवता सगुण ईश्वर के पद पर स्थापित होते हैं। इसकी मीमांसा यह कहकर की गयी है – "एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।" – सत्ता एक है, ऋषिगण उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इन सभी स्तोत्रों में, जहाँ इन विभिन्न देवताओं की महिमा गायी गयी है, जिस परम पुरुष के दर्शन होते हैं, वह एक ही है, अन्तर केवल दर्शन करनेवाले में है। एक ही सत्ता को अलग-अलग ऋषि भिन्न-भिन्न नाम से पुकारते हैं।

भारतीय मनीषियों के द्वारा अनुभूत और प्रतिपादित सामासिक एकता का यह दर्शन ही भारतीय संस्कृति की विशिष्टता और उसकी प्राणवत्ता है। ❑❑❑

आश्रयदाता राजपूत

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी की दो पुस्तकों 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' और अनेक संस्मरणों का हम धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। उन्होंने काठियावाड़ की कुछ कथाओं का भी बँगला में पुनर्लेखन किया था, जो हमें उनके धर्मभाई श्री ध्रुव राय से प्राप्त हुई हैं। इन रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी कथाओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

सिन्धी सुमर एक दिग्विजयी सरदार था। उसका ऐसा आतंक था कि छोटे-मोटे राजा तो उसका नाम सुनकर जाड़े के दिनों में भी पसीने से तर-बतर हो जाते थे। वह इतने क्रूर तथा निर्दय स्वभाव का आदमी था कि उसकी तैमूर लंग से तुलना की जाती है। उसकी सेना में ज्यादातर भाड़े के सैनिक थे – अर्थात् धनलोलुप, भाग्य-अन्वेषी नरपशु। युद्ध ही उनका पेशा था और जो उन्हें अधिक धन या लूट में अधिक हिस्सा देता, वे लोग उसी की ओर से युद्ध करते।

हैवत खाँ नाम का एक काठिया मुस्लिम सरदार भाग्य की खोज में घूमते हुए सिन्धी सुमर के राज्य में जा पहुँचा और उसकी अधीनता स्वीकार करके वहीं पर निवास करने लगा। हैवत खाँ आदमी अच्छा था। वह अपनी बात का पक्का, स्वभाव से शान्त और योद्धा के रूप में भी उसकी अच्छी ख्याति थी। वह गम्भीर प्रकृति का व्यक्ति था। अपने स्वाभिमान को बनाये रखकर वह लोगों के साथ मेलजोल या उठना-बैठना करता और एक परमेश्वर के सिवा अन्य किसी के सामने सिर नहीं झुकाता था। परन्तु सिन्धी सुमर इसके ठीक विपरीत स्वभाव का था। परन्तु हैवत की बहादुरी तथा सच्चाई ने उसे आकृष्ट कर लिया था। अत: क्रमश: थोड़े ही दिनों में दोनों के बीच अच्छा प्रेम-सम्बन्ध जुड़ गया था।

परन्तु यह मित्रता अधिक दिन टिकी नहीं। हैवत की एक परम सुन्दरी कन्या थी। यौवन की लालिमा ने उसे एक सजीव चित्र के समान रूप से सम्पन्न कर दिया था। उस पर सुमर की नजर पड़ते ही वह उसे पाने के लिये उन्मत्त जैसा हो उठा। उसने उससे विवाह करने का प्रस्ताव किया, परन्तु हैवत राजी नहीं हुआ। हैवत भले स्वभाव का था, वह जानबूझ कर भला कैसे अपनी प्राणों से भी प्रिय कन्या को एक अति उच्छृंखल चरित्र के व्यक्ति के हाथों में सौंप देता! किस हृदय से वह पुष्प के समान एक पवित्र जीवन को एक दुष्ट की दुर्दमनीय कामाग्नि में आहुति दे देता! इस विवाह से उसे काफी लाभ होता, परन्तु इस नरपशु के हाथों में अपनी कन्या को समर्पित करने की कल्पना मात्र से भी वह सिहर उठता था। चरित्रवान और विश्वस्त हैवत अपनी कुछ सुख-सुविधाओं के लिये एक सरल विश्वासी आत्मा का सर्वनाश भला कैसे करे? तब तो वह भी पशु के समान ही हो जायगा! पुत्री के मन में जिन माता-पिता के प्रति ऐसा विश्वास रहता है, वे उसे किसी अयोग्य या दुष्ट के हाथों में नहीं सौंपेंगे। अत: उसके साथ अत्याचार नहीं किया जा सकता। जो सुमर फूल की कदर नहीं जानता, उसके विवाह-प्रस्ताव पर राजी होकर यदि हैवत उस घोर कामोन्मत्त लम्पट को अपनी श्रेष्ठ प्रस्फुटित पुष्प के समान कन्या सौंप दे, तो यह नीच कार्य मानो कुल, मान, मनुष्यता – सबको बेचने के समान होगा।

यही सोचकर हैवत ने अपनी असहमति प्रकट कर दी और अविलम्ब अपने दल-बल के साथ जाकर पास के राज्य में आश्रय ले लिया। सुमर ने उस पड़ोसी राज्य को सूचना भेजी – हैवत खाँ को आश्रय देने पर वह उस पर आक्रमण करने को बाध्य होगा। राजा ने उसे राज्य छोड़कर अन्यत्र चले जाने को कहा। उसने जहाँ कहीं भी जाकर आश्रय माँगी, वहाँ सभी ने अपनी असमर्थता जतायी। अन्य कोई उपाय न देख वह तत्काल गुजरात के मार्ग पर चल पड़ा।

सुमर ने कच्छ, जामनगर आदि राज्यों से अनुमति लेकर हैवत खाँ को पकड़ने के लिये सेना भेजी। सुमर की सेना निकट आ पहुँची है – यह सूचना पाकर हैवत हताश होकर सोचने लगा – अब क्या उपाय हो? परन्तु तत्काल उसे कोई भी उपाय नहीं सूझ रहा था। राजपूत का धर्म है – शरणागत को आश्रय देना और प्राण देकर भी आश्रित की रक्षा करना। ये सब बातें वह बचपन से ही सुनता आ रहा था। उसके अनेक राजपूत मित्र भी थे, परन्तु उसके इस विवाद में कोई भी उसे आश्रय देने को राजी नहीं हो रहा था। हैवत के हृदय से कातर प्रार्थना उठी – "कालचक्र के प्रभाव में आकर क्या इन लोगों ने भी अपना कुलधर्म छोड़ दिया है? क्षत्रिय का धर्म, वीर का धर्म क्या भारत से लुप्त हो गया है? हे परमात्मा, मेरे दोष क्षमा करो। इस धर्मसंकट में मेरा त्याग मत करो। मेरी रक्षा करो।"

– २ –

थके-मादे नर-नारियों की उस टोली ने एक छोटे-से गाँव की सीमा पर पहुँचकर विश्राम करने की इच्छा से वहाँ पड़ाव डाला। भूख की पीड़ा ने उन्हें कातर कर दिया था और चलने की शक्ति छीन ली थी। हैवत खाँ ने एक सबल शरीरबाले शस्त्रधारी राजपूत को देखकर उससे पूछा, "यह कौन-सा गाँव है? किसका राज्य है?"

– "यह सूली है। कहाँ से आ रहे हैं आप लोग?"

– "सिन्ध से आ रहे हैं, आश्रय की खोज में हैं, परन्तु कोई भी आश्रय देने का साहस नहीं कर पा रहा है। सिन्धी सरदार सुमर मेरा दुश्मन है। मेरा सर्वनाश करने के लिये वह अपनी सेना के साथ मेरा पीछा कर रहा है। काठियावाड़ में कोई आश्रय देनेवाला नहीं मिला, इसीलिये गुजरात जा रहा हूँ; परमात्मा जरूर वहाँ कोई उपाय करेंगे। परन्तु शत्रु अत्यन्त निकट आ पहुँचा है और हम लोग भी बड़े थक गये हैं। थोड़े विश्राम की नितान्त आवश्यकता का बोध होने पर भी कोई उपाय नहीं दिख रहा है।"

– "आप लोग निश्चिन्त होकर आराम कीजिये। आप हमारे अतिथि हैं। अपना प्राण रहते, हम आपका कोई अनिष्ट नहीं होने देंगे।"

– "लेकिन शत्रु ...।"

– "आने दीजिये। राजपूत मृत्यु से नहीं डरता, इसलिये शत्रु से भी नहीं डरता। जब तक आप सूली की सीमा में हैं, तब तक सूली का प्रत्येक परमार युवक आप लोगों की रक्षा के लिये प्राण देने को तैयार रहेगा। आप निश्चिन्त रहिये।"

– "हैवत खाँ भी मृत्यु से नहीं डरता। परन्तु आज उससे भी अधिक भय का कारण उपस्थित हुआ है, इसीलिये वह आश्रय की याचना करने को बाध्य हुआ है।"

– "ओह, तो आप हैवत खाँ हैं!"

– "आप!"

– "लखधीर, सूली के लखधीरजी।"

– "ओह, तो सूली के मालिक लखधीरजी स्वयं! (हाथ मिलाने के बाद) मेरा परम सौभाग्य है। आपकी यश-कीर्ति मैंने बहुत सुनी है। आज मैं धन्य हुआ! मैं अपमान के भय से डरा हुआ हूँ। वह दुष्ट जबरन मेरी कन्या का पाणिग्रहण करना चाहता है।"

– "समझा, समझा। और कुछ कहने की जरूरत नहीं। ऐसी परिस्थिति में जिसमें भी जरा-सी भी मनुष्यता है, वह कदापि राजी नहीं हो सकता। इससे तो बल्कि मृत्यु अच्छी है। आप निश्चिन्त रहिये। सूली मनुष्य की कीमत जानता है। अपना जीवन देकर भी वह धर्म का पालन करेगा।"

– ३ –

आश्रय पाकर हैवत के मन को कुछ राहत मिली। सूली भी युद्ध के लिये तैयार होने लगा। गाँव दुर्ग से घिरा हुआ था, अतः दुर्ग के भीतर शत्रु के हाथ में पड़ने का कोई भय न था। तलाश करते हुए सुमर भी वहाँ आ पहुँचा और देखा कि हैवत भी युद्ध के लिये तैयार है। दोनों ओर की सेनाओं के बीच भीषण युद्ध हुआ। आखिरकार सबने दुर्ग के भीतर आश्रय लिया और सुमर ने दुर्ग को घेरकर पड़ाव डाल दिया। युद्ध काफी दिनों तक चला। आखिरकार दुर्ग में अन्न-जल का अभाव हो जाने पर आमने-सामने की लड़ाई की नौबत आ गयी। हैवत को सौंप देने से ही युद्ध थम जाता, परन्तु राजपूत कभी आश्रित को शत्रु के हाथों में समर्पित करना नहीं जानता, उसकी जगह बल्कि मृत्यु का वरण कर लेता है। "प्राण जाई पर वचन न जाई" – यही उसका धर्म है।

दुर्ग का द्वार खोल दिया गया। लखधीरजी और हैवत खाँ ने अपने दल-बल के साथ सुमर की सेना पर पूरे जोरशोर से आक्रमण किया। दोनों पक्षों की भारी क्षति हुई। भयंकर मारकाट के बाद लखधीरजी तथा हैवत खाँ और उनके साथ ही हजारों परमार तथा काठिया मुस्लिम शहीद हुए। दोनों जातियों का रक्त वहाँ एक होकर प्रवाहित हो रहा था। उस समय क्या उन दोनों के बीच कोई भेद दिखायी दे रहा था?

सुमर ने हैवत की कन्या की खोज में दुर्ग में प्रवेश किया, परन्तु जिसके लिये इतनी मारकाट हुई थी, वह उसे कहीं दिखायी नहीं पड़ी। कहते हैं कि कन्या ने जब देखा कि रक्षा का अब कोई उपाय नहीं बचा है, सभी लोग उसके लिये यमलोक जाने को तैयार हैं, तो वह छद्मवेश में गुप्त मार्ग से गुजरात की ओर पलायन कर गयी। उलते साथ केवल कुछ विश्वस्त सहचारिणियाँ मात्र थीं। सुमर को इसका पता चलने पर उसने अपने आदमियों को उसे पकड़ लाने के लिये भेजा। परन्तु उन लोगों के आने का समाचार पाकर उसने गहरे कुएँ या जलाशय में डूबकर प्राण त्याग दिया।

कहते हैं कि इस घटना के बाद से ही परमार क्षत्रिय तथा जाट मुसलमानों के बीच विशेष प्रीति हो गयी और परमारों ने उन लोगों के साथ रोटी-बेटी का सम्बन्ध भी जोड़ लिया। कहते हैं कि युद्धभूमि में लखधीरजी के चाचा जहाँ घायल होकर पड़े थे, हैवत का कोई निकट सम्बन्धी तथा विशिष्ट योद्धा भी घायल होकर उनके पास ही पड़ा था। दोनों के शरीर से रक्त की धारा बह रही थी। मुसलमान योद्धा प्रयास कर रहा था कि उसके रक्त का प्रवाह जाकर राजकुल के रक्त से न मिले। इसे देखकर वे बोले, "अरे भाई, मृत्यु निकट है, ईश्वर का स्मरण करो। खून को बहने दो। हम सभी तो एक ही मृत्यु-शय्या पर लेटे हुए हैं। मृत्यु क्या हमारे भेद को दूर नहीं कर देगी? रक्त को बहने दो। हम सभी एक उद्देश्य लेकर मर रहे हैं। भाई, हमारे प्राणों का मिलन हुआ है। इस मिलन में कोई भेद नहीं है।" ❑❑❑

तारकनाथ घोषाल

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी श्रीकरानन्द जी द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

युवक तारकनाथ समाधि के बारे में जानने की उत्कण्ठा लेकर दक्षिणेश्वर के परमहंस के दर्शन के लिए कलकत्ते के मधुराय लेन में उनके भक्त रामचन्द्र दत्त के यहाँ गया था। पहली मंजिल के बैठकखाने के दरवाजे के पास खड़े दर्शनार्थियों की भीड़ में से किसी प्रकार रास्ता बना आगे बढ़ने पर तारक ने देखा कि एक दुबले-पतले हल्की दाढ़ी-मूँछोंवाले व्यक्ति सबके आकर्षण के केन्द्र-बिन्दु हैं, जो चित्रवत् स्थिर खड़े हैं। उनके मुखमण्डल की तेजोमय प्रशान्ति इस बात का आभास दे रही थी कि वे किसी अलौकिक आनन्द का उपभोग कर रहे हैं। वे अपने आसपास के परिवेश से बेखबर लगते थे। कुछ देर बाद उन्होंने धीमे स्वर में पूछा, "मैं कहाँ हूँ?" किसी ने तुरन्त उत्तर दिया, "रामबाबू के यहाँ।" "अरे, हाँ" – उन्होंने याद करते हुए कहा। फिर वे समाधि के तत्त्व समझाने लगे। समाधि-विज्ञान की इस अद्भुत व्याख्या में अपनी स्वयं की जिज्ञासा का उत्तर पाकर, तारक को लगा कि इन्होंने अवश्य ईश्वर का साक्षात्कार किया है। उनके आकर्षण ने तारक के चित्त को इतना अभिभूत कर लिया कि उन्होंने उसी हफ्ते फिर ठाकुर के दर्शन करने का निश्चय किया।[१]

तारक के पिता रामकनाई घोषाल चौबीस परगना जिले के बारासात गाँव के निवासी थे। वे स्वयं एक पहुँचे हुए साधक थे। एक बार उन्होंने श्रीरामकृष्ण की कठोर साधना तथा ईश्वर -दर्शन पाने की प्रबल इच्छा के फलस्वरूप उत्पन्न तीव्र गात्र-दाह के निवारण का उपाय बताया था। रानी रासमणि के पारिवारिक कानूनी सलाहकार होने के कारण वे १८५० से १८६० के बीच कई बार दक्षिणेश्वर आये थे। तारकनाथ का जन्म सम्भवत: १८५५-५६ के बीच अग्रहायण (नवम्बर-दिसम्बर) में हुआ था। अपने पिता के वे एकमात्र पुत्र थे, क्योंकि उनकी बाकी सभी भाई बचपन में ही परलोक सिधार चुके थे। स्वभाव से ही इन विषयों में उदासीन होने के कारण वे शीघ्र ही अपने जन्म की तिथि आदि भूल गये थे,[२] और साधु बनने के बाद तो उन्होंने अपनी जन्म-कुण्डली को भी गंगाजी में बहा दिया था। बचपन से ही उनमें आध्यात्मिक जीवन के स्पष्ट लक्षण दिखने लगे थे। नौ साल की उम्र में उन्होंने अपनी माता वामासुन्दरी को खो दिया। (बाद में उनके पिता ने दूसरा विवाह किया था)। कुछ समय बाद ही उनकी बड़ी बहन चण्डी दो बच्चों को छोड़कर स्वर्ग सिधार गयी और दूसरी बहन क्षिरोद ने विधवा होने के बाद पित्रालय में ही आश्रय लिया। इन शोक-तापों ने तारकनाथ के मन से संसार के आकर्षणों को घटा दिया। पढ़ाई के प्रति उनका कभी विशेष लगाव न रहा। एण्ट्रेंस (कॉलेज के पूर्व) की कक्षा में पढ़ते समय वे तीर्थाटन के लिए निकल पड़े थे। परन्तु इस बीच पिता की आय कम हो जाने से तारकनाथ ने रेलवे में नौकरी कर ली और कुछ साल गाजियाबाद तथा मुगलसराय में बिताये। पर ईश्वर के प्रति उनका लगाव बढ़ता ही रहा और जब भी उन्हें समय मिलता, वह चिन्तन-मनन के रूप में प्रकट होता रहता। इन्हीं दिनों उनके सहकर्मी प्रसन्न ने पहली बार उन्हें श्रीरामकृष्ण के बारे में बताया, जिनकी ऐसी ख्याति फैल गयी थी कि उन्हें समाधि का अनुभव प्राप्त है।

इसी बीच पिता ने तारकनाथ पर नित्यकली चट्टोपाध्याय से विवाह करने के लिए जोर डाला, क्योंकि बदले में कन्या के भाई से तारकनाथ की बहन नीरदा का विवाह करना था। परिस्थितियों से बाध्य हो और पारिवारिक जिम्मेदारी का अनुभव करते हुए उन्हें यह स्वीकार करना पड़ा, पर सांसारिक जीवन के प्रति उनके मन में कोई आकर्षण न था। वे अपने भीतर की गहराइयों में और अधिक डूब गये एवं ध्यान तथा प्रार्थना में अधिक समय बिताने लगे।[३] इसके कुछ ही समय

१. तुलना करें – स्वामी अपूर्वानन्द कृत 'महापुरुष शिवानन्द' (बँगला), उद्बोधन कार्यालय, बागबाजार, कलकत्ता, बंगाब्द (१३५६), पृ. २३। इसके बाद की दूसरी भेंट और दक्षिणेश्वर में प्रथम भेंट का वर्णन भी इसी पुस्तक (पृ. २४-६) पर आधारित है।

२. अपूर्वानन्द : वही, पृ. ९ पर १८५५ ई. लिखा है; परन्तु उसके बाद की और अधिक प्रामाणिक पुस्तकों में (स्वामी विविदिषानन्द कृत 'A man of God', श्रीरामकृष्ण मठ, मद्रास, १९६८, पृ. ५ और स्वामी गम्भीरानन्द द्वारा सम्पादित, अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा १९७२ में प्रकाशित 'The Apostles of Ramakrishna', पृ. २०० से किसी निश्चित वर्ष का पता नहीं चलता। परवर्ती ग्रन्थ में लिखा है, 'ऐसा निष्कर्ष निकलता है' कि वर्ष १८५४ ई. रहा होगा।

३. तारक (तब स्वामी शिवानन्द) ने १९३२ में लिखा था – "मुझे अपनी इच्छा के विपरीत विवाह करना पड़ा और वह मेरी परीक्षा की अत्यन्त विकट घड़ी थी। जैसे-जैसे मैं रात पर रात भगवान के सामने रो-रोकर प्रार्थना करता कि मुझे माया के बन्धन में न बाँधो, वैसे-वैसे

बाद वे कलकत्ते आ गये और मेकिनॉन मैकेंजी एंड कं. में क्लर्क बन गये। उन पर ब्राह्म-समाज का प्रभाव पड़ने लगा था, पर ऐसा लगता है कि अभी वह अल्प ही था। यद्यपि वे ब्राह्म-समाज के उपदेशों से पूर्णत: सन्तुष्ट न थे और भले ही उसके नेताओं से श्रीरामकृष्ण के विषय में उन्हें अधिकाधिक जानकारी प्राप्त हो रही थी, तथापि रहने हेतु सिमला मुहल्ले में आ जाने के बाद ही उन्हें श्रीरामकृष्ण से मिलने का मौका मिल सका था, क्योंकि यहीं रामचन्द्र दत्त का निवास था।

तारकनाथ के आन्तरिक जीवन की एक झाँकी पाने के लिए उनके परवर्ती जीवन में स्वामी शिवानन्द के रूप में १९३२ ई. में लिखे गये एक पत्र को देखना होगा –

"बचपन से ही मेरे मन में भगवान के बारे में जानने और उनका दर्शन पाने की उत्कट अभिलाषा थी। उम्र के साथ-साथ वह बलवती होती गयी। इससे प्रेरित होकर मैं ब्राह्म-समाज में जाता और जिन सन्त-महात्माओं से मुझे मार्ग-दर्शन पाने की आशा बँधती, उन सभी के दर्शन करने जाता। मैं उनके बतलाये उपदेशों का पालन भी करता। बचपन से ही सांसारिक जीवन के प्रति मेरा कोई लगाव न था।...

"घर की आर्थिक दुरवस्था के कारण मुझे जल्दी ही पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। मैं अकेला पुत्र था और परिवार पर दो आश्रित बहनों का दायित्व होने के कारण मुझे कलकत्ते आकर नौकरी खोजनी पड़ी। इससे मेरा दिल डूब गया था। मैं प्राय: ही भगवान के सामने रोया और प्रार्थना करता कि मुझे इन बन्धनों से मुक्त करो।"[४]

फिर १९२२ ई. में कुछ भक्तों से चर्चा करते हुए उन्होंने बताया था – "किशोरावस्था से ही मैं साधना किया करता था। उन दिनों मैं ब्राह्म-समाज से जुड़ा हुआ था और मैंने ठाकुर के बारे में केशवबाबू की पत्रिका 'धर्मतत्त्व' में पढ़ा था। मैं दक्षिणेश्वर की ठीक-ठीक स्थिति और वहाँ पहुँचने का मार्ग नहीं जानता था। बाद में मुझे रामबाबू के एक रिश्तेदार ने बतलाया था कि वह बाली नहर के एकदम सामने है। ... बहुत दिनों से मैं समाधि के बारे में जानने को उत्सुक था। मैं ध्यान किया करता था और कई बार मुझे ऐसा अनुभव होता कि मैं समाधि के करीब पहुँच गया हूँ। परन्तु मैं ठीक-ठीक जानना चाहता था कि समाधि का यथार्थ स्वरूप क्या है। मैंने कई लोगों से पूछा पर कोई भी मुझे बता नहीं सका। सिर्फ एक व्यक्ति ने कहा, "इस कलयुग में कोई समाधि-लाभ नहीं कर सकता। मैंने केवल एक आदमी ऐसा देखा है, जिसने किया है; और वे हैं दक्षिणेश्वर के श्रीरामकृष्ण परमहंस।"[५]

मेरी संसार-त्याग करने की इच्छा प्रबलतर होती गयी।" (स्वामी विविदिषानन्द की उपर्युक्त पुस्तक के पृ. २६२ में उद्धृत)

४. विविदिषानन्द : वही, पृ. २६१।

५. 'प्रबुद्ध भारत,' मार्च, १९३०, पृ. १२० ('एक शिष्य की डायरी')।

ऐसे ही समय में, १८८१ ई.[६] के करीब मध्य में तारक ने प्रथम बार रामचन्द्र दत्त के मकान में श्रीरामकृष्ण का दर्शन किया। कुछ वर्षों पूर्व तक श्रीरामकृष्ण प्राय: अज्ञात से थे, परन्तु अब तक भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ते और आसपास के क्षेत्रों में सबसे प्रभावी और प्रेमिक धार्मिक व्यक्ति के रूप में उभर आये थे। एक शनिवार को तारक के एक मित्र ने, जो रामचन्द्र दत्त का एक सम्बन्धी भी था, उन्हें बताया कि श्रीरामकृष्ण उस दिन रामचन्द्र दत्त के यहाँ पधारने वाले हैं। तदनुसार तारक वहाँ गये। इसका वर्णन हम तारकनाथ के ही शब्दों में देखें – "मैं शाम को किसी प्रकार रामबाबू के यहाँ जा पहुँचा। मैंने देखा श्रीरामकृष्ण लोगों से घिरे हुए कमरे में बैठे हैं। वे प्राय: बाह्य-संज्ञा-शून्य थे। मैं उन्हें प्रणाम कर पास में ही बैठ गया। जब वे उसी विषय – समाधि पर धाराप्रवाह बोलने लगे, जिसे जानने के लिए मैं उत्सुक था, तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मुझे विस्तार से तो

६. महेन्द्रनाथ चौधरी द्वारा बँगला में लिखित 'विवेकानन्द चरित' (रामकृष्ण सेवाश्रम, सिलचर, बंगाब्द १३२६) की भूमिका में स्वामी शिवानन्द ने स्वयं लिखा था कि वे श्रीरामकृष्ण से सर्वप्रथम रामचन्द्र दत्त के घर पर १८७९ या १८८० में मिले थे। बाद में ('प्रबुद्ध भारत', मार्च, १९३०, पृ. १०७) में उन्होंने बताया कि वे १८८० या १८८१ में श्रीरामकृष्ण को देखने के लिए एक भक्त के घर गये थे।

अपूर्वानन्द (वही, पृ. २४) ने लिखा है कि अपनी प्रथम दक्षिणेश्वर-यात्रा के समय तारकनाथ का मित्र अपने साथ आम ले गया था। इससे अनुमान होता है कि वह जून या जुलाई का महीना रहा होगा। 'श्रीश्रीरामकृष्ण कथामृत' (बँगला, १७वाँ सं., भाग १, पृ. ६) में 'म' अप्रत्यक्ष रूप से जोर देकर कहते हैं कि प्रथम भेंट १८८१ के अन्तिम भाग के पूर्व ही हुई थी।

३ मार्च से १० अक्तूबर १८८० तक श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर से बाहर कामारपुकुर में रहे। वहाँ से लौटने के शीघ्र बाद ही, दुर्गापूजा के समय वे रामचन्द्र दत्त के यहाँ गये थे। स्वामी गम्भीरानन्द ('उद्बोधन', वर्ष ५२, पृ. ५१९) के अनुसार सम्भव है तारक ने तभी पहली बार ठाकुर को देखा था। परन्तु ऊपर उद्धृत अपने दोनों लेखों में स्वामी शिवानन्दजी बतलाते हैं कि उनकी प्रथम यात्रा उस समय हुई थी, जब स्वामी विवेकानन्द आदि भावी संन्यासी शिष्यों ने श्रीरामकृष्ण के पास आना शुरू कर दिया था। विवेकानन्दजी श्रीरामकृष्ण से पहली बार नवम्बर १८८१ में मिले (देखें 'श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका' रामकृष्ण मठ, नागपुर, भा. १, पृ. २०)। राखाल उनसे करीब छह महीने पूर्व आये, जो ठाकुर के पास आनेवालों में सबसे पहले थे। चूँकि शिवानन्दजी तिथि के विषय में उदासीन थे, परन्तु व्यक्तियों के सन्दर्भ में उनकी स्मरण-शक्ति तीव्र थी, इसलिए प्रथम भेंट का समय मई १८८१ मानना ही सबसे उचित मालूम पड़ता है। रामबाबू के यहाँ ठाकुर की दूसरी यात्रा उसी महीने में हुई थी। फिर स्वामी सारदानन्द (श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, रामकृष्ण मठ, नागपुर, सं. २००८, भाग २, पृ. ७८९) लिखते हैं कि भावी संन्यासी शिष्यों ने १८८१ के पूर्वार्ध में आना आरम्भ किया था।

अब याद नहीं है, पर इतना याद है कि उन्होंने निर्विकल्प समाधि के बारे में बताया था और कहा था कि कलियुग में अति अल्प लोग ही उसे पा सकते हैं; और यदि किसी को मिल भी जाय, तो उसका शरीर इक्कीस दिन से अधिक नहीं टिक सकेगा; सल्किया के श्याम मुखर्जी को निर्विकल्प समाधि हुई थी, उसके बाद वे इक्कीस दिन तक ही जीवित रहे। ... उस दिन ठाकुर से मेरी कोई बातचीत नहीं हुई।''[७]

परन्तु ठाकुर के शब्दों ने उनके हृदय पर गहरा प्रभाव डाला था।[८] यद्यपि यह ज्ञात नहीं कि उस दिन श्रीरामकृष्ण के साथ तारक का परिचय कराया गया था या नहीं, परन्तु ऐसा नहीं लगता कि श्रीरामकृष्ण ने अपनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा साधक के रूप में तारक की महती सम्भावनाओं को पहचानने में कोई भूल की होगी।

तारक के मन में अगले शनिवार को श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए जाने की इच्छा जाग्रत बनी रही और दक्षिणेश्वर में ही रहनेवाला एक मित्र उनके साथ जाने के लिए राजी हो गया। दफ्तर के बाद तारक नाव से अपने मित्र के घर पहुँचे और वहाँ से वे लोग काली-मन्दिर आये। सन्ध्या हो चुकी थी और अब आरती होनेवाली थी। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को इधर-उधर खोजा और अन्त में उन्हें उनके कमरे के पश्चिमी गोल बरामदे में किसी की प्रतीक्षा करते हुए खड़े पाया। तारक के अन्दर एक विचित्र-सा भय का भाव समा गया। उन्होंने श्रद्धा के साथ श्रीरामकृष्ण के चरण स्पर्श किये। उन्होंने सस्नेह पूछा, ''तुमने मुझे पहले देखा है?'' – ''जी हाँ, पिछले शनिवार को रामबाबू के यहाँ।'' उनके इस उत्तर से प्रसन्न होकर ठाकुर ने तारक से थोड़ी बातें कीं और उन्हें अपने कमरे के भीतर ले गये। उन्होंने ज्योंही छोटे तखत पर अपना आसन ग्रहण किया, तारक को लगा मानो उनकी अपनी माँ ही सामने बैठी हों। इस अनुभूति से अभिभूत होकर तारक ने उन्हें पुन: प्रणाम किया और अपना मस्तक उनकी गोद में रख दिया। श्रीरामकृष्ण भी धीरे-धीरे उनके सिर पर हाथ फिराने लगे। तारक ने बाद में लिखा था –

''थोड़ी-सी बातचीत ही मेरे लिए पर्याप्त थी; मुझे तत्काल ठाकुर के प्रति गहरे लगाव का अनुभव हुआ। मुझे लगा कि मैं उन्हें काफी काल से जानता हूँ। मेरा हृदय आनन्द से पूर्ण हो उठा। उनके देखकर मुझे लगा मानो अपनी कोमल, स्नेहमयी जननी ही मेरी राह रही हो। इसलिए बच्चे के समान उन पर पूरी तौर से आश्रित होकर मैंने श्रद्धा, विश्वास तथा निर्भरता के साथ स्वयं को उन्हें समर्पित कर दिया। मुझे विश्वास हो गया कि ये वे ही हैं, जिन्हें मैं इतने दिनों से खोज रहा था। उस दिन से मैं उन्हें अपनी माँ के रूप में ही देखता। वे भी मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करते।''[९]

थोड़ी देर बाद ही श्रीरामकृष्ण ने उनसे पूछा, ''तुम ईश्वर के साकार रूप में विश्वास करते हो, या निराकार रूप में?''

''निराकार रूप में'', तारक ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया।

''परन्तु तुम जगदम्बा रूपी दैवी शक्ति को अस्वीकार नहीं कर सकते, जो स्वयं को विभिन्न रूपों में प्रकट करती हैं।''

श्रीरामकृष्ण सन्ध्या-आरती के शंख तथा घण्टियों की आवाज सुनकर काली-मन्दिर की ओर चले। उन्होंने तारक से भी साथ आने को कहा। वहाँ उन्होंने जगदम्बा की मूर्ति के समक्ष साष्टांग प्रणाम किया। तारक थोड़े संकुचित होकर सोचने लगे कि क्या किया जाय, क्योंकि ब्राह्म-समाज में उन्हें बताया गया था कि मूर्ति के सामने दण्डवत् प्रणाम करना घोर पौत्तलिकता है। तथापि उनके मन में यह विचार कौंधा – ''मैं अपने भीतर इतनी द्वेष-भावना क्यों पालूँ? जब ईश्वर सर्वव्यापी हैं, तो वे इस पत्थर की मूर्ति में भी विद्यमान होंगे।'' इस प्रकार शंका दूर हो जाने पर तारक भी मूर्ति के समक्ष दण्डवत् लेट गये। लगा कि श्रीरामकृष्ण तारक की प्रत्युत्पन्न मति और उदारता को देखकर बहुत प्रसन्न हुए।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीरामकृष्ण ने अपनी गहरी अन्तर्दृष्टि से इस युवक की आध्यात्मिक सम्भावनाओं को आँक लिया था। उन्होंने तारक से रात में वहीं ठहर जाने को कहा और बोले, ''देखो, इस प्रकार केवल एक-दो बार मिलने से तुम्हें कोई स्थायी लाभ नहीं हो सकता। तुम्हें यहाँ बारम्बार आते रहने पड़ेगा।'' चूँकि तारक ने पड़ोस में ही रहनेवाले अपने मित्र के घर पर रात बिताने का वायदा कर दिया था, अत: उन्होंने ठाकुर से क्षमा-प्रार्थना की। इससे भी श्रीरामकृष्ण प्रसन्न हुए, उन्होंने कहा, ''हाँ, अपने दिए वचनों का पालन जरूर करना चाहिए। कलयुग में सत्य बोलना भी एक तपस्या है।'' कुछ समय बाद तारक को विदा करते हुए वे सस्नेह बोले, ''अच्छा, कल फिर आना।''

तारक अपने मित्र के साथ वापस चले गये, पर श्रीरामकृष्ण उनके चित्त पर छाये हुए थे। ठाकुर के प्रति आकर्षण बढ़ रहा था। दूसरे दिन फिर वे उनके पास गये तथा उसके बाद तो प्राय: ही जाते रहते। उन्होंने बाद में लिखा था – ''इस अविस्मरणीय भेंट के बाद घर तथा दफ्तर का जीवन मुझे भार-स्वरूप प्रतीत होता। मैं प्राय: उनके पास दक्षिणेश्वर या कलकत्ता भाग जाता।''[१०] किसी के मन में यह उठ सकता

---

७. 'प्रबुद्ध भारत', मार्च, १९३०, पृ. १२०-२१

८. अपूर्वानन्द (वही, पृ. २३) लिखते हैं, ''मेरा मन मानो आनन्द से नाच रहा था।... मुझे ऐसा लग रहा था कि जो व्यक्ति समाधि के बारे में इस प्रकार इतने सहज शब्दों में बता रहा है, उसने निश्चय ही उसकी प्राप्ति की होगी।... यदि किसी प्रकार मुझ पर उनकी कृपा हो जाय, तो मैं भी समाधि प्राप्त कर लूँगा।''

९. विविदिषानन्द, वही, पृ. २६१-६२; **१०.** वही, पृ. २६२

है कि श्रीरामकृष्ण में ऐसा क्या था, जिससे वे इतने प्रभावित हो गये थे। तारक ने स्वयं इसका उत्तर दिया है – "वे हमसे प्रेम करते; और उनके इसी प्रेम ने हमें खींच लिया था। उनके प्रेम के विषय में मैं क्या कहूँ? उनके प्रेम को समझाना कठिन है। बचपन में हम लोगों ने माँ-बाप का स्नेह पाया था और सोचते थे कि इससे बढ़कर और कोई प्रेम नहीं हो सकता। परन्तु श्रीरामकृष्ण के पास पहुँचकर मैंने पाया कि माँ-बाप का प्रेम उनके प्रेम की तुलना में तुच्छ है। उनके सान्निध्य में मुझे लगता कि मैं अपनी स्वयं की जगह में आ गया हूँ – उसके पहले मानो मैं अनजान जगह में था।... ठाकुर ने पहली भेंट से ही मुझे अपना बना लिया था।"[११]

उन अद्भुत दिनों का स्मरण करते हुए उन्होंने बाद में कहा था – "हम लोग घण्टे दो घण्टे ठाकुर के साथ बिताते – कभी-कभी वार्तालाप बहुत कम होता। पर उनके संग का प्रभाव कई दिनों तक बना रहता। हम लोग भगवान का चिन्तन करते हुए मानो आध्यात्मिक नशे में डूबे रहते।"[१२]

श्रीरामकृष्ण के ममत्वपूर्ण व्यवहार ने तारक के हृदय में जल्दी ही ऐसी लौ प्रज्वलित कर दी कि अब संसार उन्हें अधिक दिन तक नहीं बाँध सका। श्रीरामकृष्ण के द्वारा स्पर्श करने पर, जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने स्वयं एक दिन वार्तालाप करते हुए बतलाया था, तारक ने अपने भीतर अत्यन्त आकुलता का अनुभव किया था, जिससे मन समाधिस्थ हो गया और फलस्वरूप इनकी समस्त हृदय-ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो गयीं।[१३] इस मर्मस्पर्शी अनुभूति का वर्णन करते हुए तारक ने परवर्ती काल में बताया था – "इस जादुई स्पर्श ने मेरी बाह्य चेतना का लोप करके मुझे एक गहन ध्यानमय अवस्था में डूबा दिया। मैं कितनी देर तक उस अवस्था में रहा, यह मुझे नहीं मालूम। इस स्पर्श के फलस्वरूप मुझे सब कुछ ज्ञात हो गया; मुझे अनुभव हुआ कि मैं नित्य-मुक्त आत्मा हूँ; मुझे अनुभव हुआ कि श्रीरामकृष्ण ने जगत् के कल्याण हेतु जन्म लिया है और मैं उनकी सेवा करने हेतु पृथ्वी पर आया हूँ।"[१४]

अपने परवर्ती जीवन में तारक ने लिखा था –"मैं अभी तक पूरी तौर से समझ नहीं पाया हूँ कि वे मानव थे या अतिमानव, देवता थे या साक्षात् भगवान। परन्तु मैंने उन्हें एकदम अहंभाव से रहित और सर्वोच्च त्याग का अधिकारी पाया है। वे उच्चतम ज्ञान के अनुभवी सिद्ध और प्रेम के तो साक्षात् मूर्तिमान विग्रह थे। ज्यों-ज्यों मैं अध्यात्म के क्षेत्र से अधिकाधिक परिचित होता जा रहा हूँ तथा श्रीरामकृष्ण के आध्यात्मिक भावों के अनन्त विस्तार और गहराई का अनुभव कर रहा हूँ, मेरा यह विश्वास बढ़ता ही जा रहा है कि उनकी भगवान से, साधारणत: जिस अर्थ में हम भगवान् को समझते हैं, तुलना करना मानो उनकी परम महानता को कम करना और छोटा बनाना ही होगा।"[१५]

यही वह धारणा थी, जिसका पूर्ण विकास और गरिमामयी अभिव्यक्ति हमें तारक के जीवन में दिखायी देती है, जो उन्हें धीरे-धीरे स्वामी शिवानन्द के रूप में परिणत करती है, जिन पर बाद में रामकृष्ण संघ के दूसरे परमाध्यक्ष के रूप में दीर्घ बारह वर्षों तक इस संघ के संचालन का उत्तरदायित्व न्यस्त हुआ था। अहंकार से शून्य[१६] तथा सभी प्रकार की स्वार्थमय वासनाओं से पूर्णत: मुक्त रहते हुए लगभग अस्सी वर्ष की दीर्घ आयु तक वे 'श्रीरामकृष्ण की महान् आध्यात्मिक शक्ति के प्रत्यक्ष प्रमाणस्वरूप' इस धरती पर विद्यमान रहे। ❑

११. 'शिवानन्द-वाणी' (बँगला), संकलक स्वामी अपूर्वानन्द, प्रकाशक बेलुड़ मठ, बंगाब्द १३४४ में प्रकाशित, भाग १, पृ. ३६-७

१२. विविदिषानन्द, वही, पृ. ३०५

१३. सारदानन्द, वही, पृ. ८९६; स्वामी शिवानन्द ने स्वयं लिखा है कि उन्हें "श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में उनके स्पर्श तथा इच्छा से तीन बार उस सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था (समाधि) को प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था।" ('प्रबुद्ध भारत', मार्च, १९३०, पृ. ११०)

१४. विविदिषानन्द, वही, पृ. २६०

१५. 'प्रबुद्ध भारत', मार्च १९३०, पृ. १०७

१६. कभी-कभी वे अपने पालतू कुत्ते को दिखाते और अपनी ओर इशारा करके कहते, "यह इसका मालिक है"; और अपनी ओर तथा ठाकुर की तस्वीर दिखाकर कहते, "और यह उनका कुत्ता है।" (विविदिषानन्द, वही, पृ. १२२-२३)।

ईश्वर का दर्शन होता है – *श्रीरामकृष्ण*

सचमुच ही ईश्वर को देखा जा सकता है, जैसे इस समय हम-तुम बैठकर बातचीत कर रहे हैं, इसी तरह उनके दर्शन तथा उनसे बातचीत हो सकती है। सच कहता हूँ, शपथपूर्वक कहता हूँ। ईश्वर विभिन्न रूपों में प्रकाशित होते हैं। शुद्ध-हृदय भक्त इन ईश्वरीय रूपों को देख सकते हैं। ईश्वर की कृपा से भीतर दिव्य भागवती तनु निर्मित होती है, उसमें दिव्य इन्द्रियाँ होती हैं; उन्हीं के द्वारा इन रूपों के दर्शन होते हैं।

ईश्वर का साक्षात्कार दो प्रकार का होता है – एक में जीवात्मा तथा परमात्मा का योग होता है, दूसरे में ईश्वरीय रूपों के दर्शन होते हैं। पहला ज्ञान है और दूसरी भक्ति।

कोणार्क का भविष्यवक्ता

स्वामी वासुदेवानन्द

कोणार्क का मन्दिर अब खण्डहर हो चुका है। चाहे जैसा भी कलाकार हो, पर उस कारीगरी का पूरा सौन्दर्य दुबारा प्रस्फुटित कर पाना असम्भव है। गर्भगृह तथा नाट्य-मन्दिर की दीवार मात्र बची है – मन्दिर नहीं है। बचा है केवल अश्वद्वार, हस्तीद्वार, जगमोहन (भोग-मन्दिर) और बृहत् गजसिंह की मूर्ति। जगमोहन मन्दिर की वर्तमान ऊँचाई करीब १३० फीट है। उसके ऊपर का कलश, गुम्बज तथा पद्म टूटकर गिर चुके हैं। उसे मिलाकर लगता है वह और भी १० फीट ऊँचा था। सर्वाधिक दर्शनीय तो है धरती के ऊपर खड़े १० फीट ऊँचे बारह जोड़े रथचक्र हैं। पूरा मन्दिर ही सूर्य के रथ के रूप में कल्पित हुआ था। इन चक्रों में आठ चौड़े और आठ पतली तिलियाँ हैं। अक्ष के चारों ओर कमल की आठ पंखुड़ियाँ हैं। फिर उनमें से प्रत्येक के ऊपर एक-एक नर्तकी है। नेमि में लता-पत्तियाँ तथा उनके दोनों ओर विचित्र मूर्तियाँ हैं। कोणार्क का अरुण-स्तम्भ अब जगन्नाथ-मन्दिर के सिंहद्वार पर स्थापित दीख पड़ता है।

यह स्थान पहले भविष्य-वक्ताओं का विश्वविद्यालय था। इसमें फलित ज्योतिष, अंगलक्षण शास्त्र, हस्तरेखा विज्ञान, शकुन तथा शरीसृप शास्त्र, मेघविद्या, स्वप्न-तत्त्व आदि ज्योतिर्विद्या के वे सारे शास्त्र पढ़ाये जाते थे, जिनके द्वारा भविष्य में घटनेवाली विशिष्ट घटनाएँ पहले से बतायी जा सकती थीं। जगमोहन का सौन्दर्य तथा ऊँचाई देखकर अनुमान लगाया जा सकता है कि कोणार्क का मूल मन्दिर जगन्नाथ के मन्दिर की अपेक्षा ऊँचा तथा उत्कृष्ट था। वेधशाला (Observatory) का तो अब चिह्न तक नहीं बचा है।

किसी-किसी का कहना है कि पुरी के मन्दिर में जो सूर्य-मूर्ति है, वह कोणार्क से ही लायी हुई है। परन्तु उस कुरूप मूर्ति को कोणार्क के अपूर्व सूर्य-वेदी पर स्थापित करने की तो कल्पना तक नहीं की जा सकती। दर्शक यदि ध्यान से देखें, तो उसी के पीछे कसौटी पत्थर से बनी – एक अन्य बैठी हुई सौम्य मूर्ति देख सकेंगे। उस मूर्ति के पाँवों के ऊपर सामने की ओर से सूर्यमूर्ति का आभास होता है। मूर्ति के हाथ तथा नाक टूटा होने के बावजूद उसके सुडौल बाहुओं में केयूर, गले में फूलों की माला, शरीर पर विभिन्न अलंकार – मस्तक पर कोणार्क शैली का ही सूर्य-मुकुट, गले में जनेऊ तथा वस्त्र कोणार्क के हरिदश्व के ही समान है। अत: उसके बुद्धमूर्ति होने की कोई सम्भावना नहीं है। सिर पर चक्र, दोनों तरफ देव-कन्याएँ, सिर के दोनों ओर दो मकर-मुख, पाँवों के दोनों ओर दो परिचारिकाएँ, नीचे एक आयताकार सिंहासन। दोनों मूर्तियों की स्थिति की तुलना करने पर ऐसे लगता है मानो कुरूप मूर्ति के द्वारा सुन्दर मूर्ति को ढककर रखने का प्रयास किया गया है, सुन्दर नाक को तोड़कर विकृत किया गया है; हाथों में पद्म देखकर कोई पहचान न ले, इस कारण दोनों हाथों को नष्ट कर दिया गया है – प्रतिमा का यह स्थानान्तरण समझ-बूझकर किया गया है।

* * *

समुद्र के तट पर बैठकर हम लोगों के बीच ऐसी ही तरह-तरह की अटकलें चल रही थीं। रवि ने कहा, "क्या आप यह कहना चाहते हैं कि किसी समय पुरी के राजा ने कोणार्क की समृद्धि से ईर्ष्यान्वित होकर उस मन्दिर को ध्वंश कर दिया और विजय के चिह्न के रूप में अरुण स्तम्भ तथा सूर्यमूर्ति को लाकर पुरी में स्थापित कर दिया?"

– "सम्भव है। क्योंकि कोणार्क के ध्वंश के विषय में कोई भी किंवदन्ती सुनने में नहीं आती – न भूकम्प की और न किसी मुसलमान शासक के आक्रमण की – ऐसी कोई भी बात कोई नहीं कहता।"

– "परन्तु ऐसा भी तो हो सकता है कि किसी भी कारण से मन्दिर टूटा; और उसे नष्ट होते देखकर पुरी के राजा ने स्तम्भ तथा मूर्ति को ले जाकर वहाँ स्थापित कर दिया। और चूँकि मूर्ति टूट चुकी थी, इसलिये उसी के बगल में एक अन्य मूर्ति की स्थापना कर दी।"

– "हो सकता है, मैं निश्चित रूप से कुछ नहीं कहता।"

ऐसी ही तरह-तरह की बातें हम लोगों के बीच चल रही थीं। इसी बीच धीर कदमों से चलकर कब संध्या आ चुकी है और कब कोजागरी पूर्णिमा-लक्ष्मी ने आकर पूर्ण -चन्द्र को समुद्र-लक्ष्मी के किनारे बैठा दिया है, इसका हमें पता ही नहीं चला। अनादि काल से यात्रीगण तट प्रान्त के जिस चाँदनी में नहाये विस्तार को देखते आये हैं, वही श्वेत तरंग-राशि श्रीजगन्नाथ के चरणों में बारम्बार प्रणाम करके लौट आती थी – वही पुरातन नीलदेह, वक्ष पर श्वेत चाँदनी की रेखा, झाऊवृक्षों का वह दीर्घ नि:श्वास, सब कुछ उस प्राचीन काल के समान ही मन में एक-एक कर झाँक रहे थे।

तभी एक व्यक्ति चक्र-नारायण-मन्दिर की ओर से छाया के समान उतरकर हमारी तरफ आने लगे। निकट आने पर देखा – उज्ज्वल गोरा रंग, पान की लालिमा से रँगे होठ, शिखा-सूत्र, गले तथा बाहुओं में आभूषण, लाल रंग के वस्त्र और हाथ में एक कमल। समझ गये कि पण्डाजी हैं। उन्हें देखते ही फणी ने अपनी जेब में हाथ डालकर कहा, "हम

लोग तो हवा खाने के लिये आये हैं, भगवान का दर्शन करने नहीं। जेब में एक भी पैसा नहीं है।''

– ''मैं पण्डा नहीं, स्थानीय ब्राह्मण हूँ।''

– ''अच्छा महाराज, कोणार्क यहाँ से कितनी दूर है – इस समय जाने से सुविधा होगी?''

– ''नौ कोस। परन्तु इस समय काफी वर्षा हो रही है, जाना सुविधाजनक नहीं होगा।''

– ''अच्छा महाराज, कोणार्क मन्दिर टूटा कैसे – क्या आप जानते हैं?''

थोड़ा हँसकर लम्बी साँस लेते हुए, ''लम्बी कहानी है।''

– ''हम लोग सुनना चाहेंगे, थोड़ा बताइये न !''

मुझे लगने लगा कि अपूर्व सौन्दर्यवाला यह व्यक्ति अपने सौम्य रूप तथा मधुर कण्ठ के साथ इस रहस्य का उद्घाटन करने के लिये ही हम लोगों के समक्ष उपस्थित हुआ है।

उसने पूछा, ''उस चक्र का तात्पर्य जानते हो?''

– ''नहीं।''

– ''चक्रतीर्थ आये हो, परन्तु चक्र का अर्थ नहीं जानते ! इसीलिये तो तुम लोगों का तीर्थ-दर्शन सार्थक नहीं होता और आनन्द भी नहीं मिलता। उसका केवल गौण फल ही प्राप्त होता है। वैदिक धर्म में हर बाह्य प्रतीक का एक आध्यात्मिक अर्थ होता है। अच्छा, तुम लोगों ने ज्योतिष पढ़ा है?''

– ''नहीं।''

– ''यदि उसकी राशियाँ तथा नक्षत्रों को एक-एक कर सजाया जाय, तो वह एक विराट् चक्र में परिणत हो जायगा – उसी का नाम है यह संसार-चक्र – वह जगन्नाथ की उंगली के सहारे घूम रहा है। इसके भीतर धोखेबाजी नहीं चलती, क्योंकि लोकलोचन सूर्यदेव सबके साक्षी हैं।''

फणी बोला, ''इसमें धोखा किसने दिया था, महाशय?''

– ''धोखा दिया था कोणार्क के धर्माध्यक्ष भानुराग ने !''

– ''सारी बात जरा खोलकर बताइये'' – रवि उत्सुक होकर चिल्ला उठा।

ब्राह्मण कहने लगा, ''तुम सभी ने कोणार्क का नाम तो सुन ही रखा है। वहाँ पर देवज्ञ लोगों का विश्वविद्यालय था। विभिन्न दिशाओं से विभिन्न देशों के छात्र वहाँ आकर अध्ययन किया करते थे। प्रकृति का निरीक्षण तथा मनोविज्ञान के विश्लेषण द्वारा वे लोग ग्रह, नक्षत्र, आकाश, बादल, पक्षी, सर्प, दैहिक गठन, मणि, मंत्र, औषधि आदि के योग से मानवीय-चरित्र, भविष्य की घटनाओं तथा आपदाओं के विषय में पढ़ाई होती थी। आदित्य-नारायण उन लोगों की तपस्या से सन्तुष्ट होकर उनके मनों में प्रकृति अद्भुत रहस्यों को प्रकट कर देते थे। विदेशी लोग वहाँ आकर भविष्य के बारे में जानकारी लेते और संकट से उद्धार पाते। ज्यों-ज्यों उन लोगों की सुख-समृद्धि बढ़ती गयी, त्यों-त्यों उन लोगों की अपनी तपस्या तथा विद्या के प्रति लापरवाही का भाव आता गया। इसके फलस्वरूप उन लोगों की भविष्यवाणियाँ भी विफल होने लगीं।

''एक दिन भानुराग ने समवेत लोगों को बुलाकर घोषणा की कि सूर्यदेव ने उन पर सन्तुष्ट होकर उन्हें स्वप्न में बताया है कि हर रविवार को वे स्वयं ही जिज्ञासुओं के लिये देववाणी करेंगे। इसके बाद सचमुच ही देववाणी होने लगी। लोगों की भीड़ बढ़ती गयी। देवता का चढ़ावा भी क्रमशः स्तूपाकार होने लगा। क्रमशः देवदासियों के नृत्य तथा आचार्यों के विलास में भी काफी वृद्धि हो गयी। परन्तु देववाणी हमेशा ही अस्पष्ट रहा करती थी। प्रत्येक जिज्ञासु एक भोजपत्र पर अपना प्रश्न लिख देता, उसके बाद लाल वस्त्र पहने एक नारी उस भोजपत्र को माला-चन्दन तथा जवा-पुष्पों से सजाकर सूर्यदेव के चरणों में रख देती, उसी समय ऊपर से एक अशरीरी वाणी सुनकर सभी लोग अवाक् रह जाते। वह वाणी कभी फलती, तो कभी विफल जाती। भानुराग कहते, ''देववाणी का तात्पर्य समझना मनुष्य के लिये सर्वदा सहज नहीं होता।'''

एक दिन सहसा भानुराग का देहान्त हो गया। अब शास्त्र के सबसे बड़े ज्ञाता भवदेव के ऊपर अध्यक्षता का भार आ पड़ा। भविष्य पर विचार करने में ऐसे निपुण थे कि भानुराग ने उन्हें 'सर्वज्ञ' की उपाधि से भूषित किया था। कोई कठिन प्रश्न आता, तो भानुराग उनकी परीक्षा लेकर अपना संशय मिटा लेते। वृद्ध प्रवालरुचि पहले के समान ही भवदेव के सहकारी नियुक्त हुए।

''भवदेव की धर्माध्यक्षता के प्रथम रविवारीय उत्सव के दिन, प्रवालरुचि चार भोजपत्र लेकर भवदेव के कमरे में गये और पूछा, ''कहिये तो प्रभु, लोकचक्षु आज इन चार प्रश्नों के क्या उत्तर देंगे?'' एक तो अध्यक्ष का पद मिला था और ऊपर से यौवन का उत्साह भी था – भवदेव ने तत्काल गणना करके समुचित उत्तर दे दिया। देववाणी भी ठीक वैसी ही हुई। प्रवालरुचि ने कहा, ''आप सचमुच ही सर्वज्ञ हैं।''

युवक का उत्साह और भी बढ़ता गया। वे हर रविवारीय उत्सव के हर प्रश्न की गणना करके पहले से ही प्रवालरुचि को बता देते और धीरे-धीरे उनकी सफलता की सूचनाएँ भी आने लगीं। सम्पूर्ण भारतवर्ष में सभी के मुख पर कोणार्क की देववाणी की बातें थीं। अन्य द्वीपों के निवासी भी जलयान में आकर कोणार्क के तट पर आश्रय लेते।

''उस साल वर्षा न होने के कारण वह पूरा नीलाचल क्षेत्र सहसा भीषण अकाल की चपेट में आ गया। भवदेव ने मन्दिर-कोष से चारों ओर अन्नसत्र खोलने का आदेश दिया। पहले तो सभी ने उन्हें खूब उत्साहित किया, पर बाद में जब

कर्मचारियों तथा आचार्यों ने देखा कि मन्दिर का कोष घटता जा रहा है और उनके स्वयं का खर्च चलाने में भी असुविधा होनेवाली है, तो उन लोगों ने यह कार्य बन्द करने की सलाह दी। भवदेव बोले, 'आप लोगों को तो अनाहार का कष्ट कभी भोगना नहीं पड़ा है, मैं तो मात्र विलासिता घटाने को कह रहा हूँ। भूख-प्यास के कारण जब मनुष्य के पेट तथा आँखें कोटर में घुसने लगती हैं, तब उसे कैसी पीड़ा होती है, क्या आप लोग जानते हैं? कालिमा से घिरे ज्योतिहीन सूखे नेत्रों का रुदन क्या आपने देखा है?' सभी मौन रहे। 'मैंने सोचा है, यदि आप लोगों की सहमति हो, तो यह प्रार्थना करूँगा कि आप सभी अपने-अपने वेतन का आधा हिस्सा इन प्यासों के लिये कुएँ खुदवाने के लिये दान कर दें।'

इस पर किसी ने भौंहें टेढ़ी की, किसी ने शंकापूर्वक उधर देखा, किसी का चित्त करुणा से पिघला भी। और प्रवालरुचि कटाक्षपूर्वक मृदु हास्य के साथ वहाँ से खिसक गये।

"पर अगले रविवारीय को देववाणी नहीं हुई। सभी उत्सुक थे, अवाक् थे और कानाफूसी कर रहे थे, 'धर्माध्यक्ष से कोई भूल हुई है।' किसी ने कहा, 'देवता का धन मनुष्य को खिलाने से ऐसा ही होता है।' भवदेव कोई भी कारण न समझ पाने से किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रुदन करने लगे। प्रवालरुचि मृदु हास्य के साथ उनका हाथ पकड़कर बोले, 'प्रभो, लगता है कि देवता के पैसों के अपव्यय के कारण ऐसा हुआ है। आज आप अपने गणित के अनुसार इन लोगों को फलाफल बताकर इन्हें विदा कीजिये।'

भवदेव के मन में कष्ट की सीमा न थी – 'क्या भूल हुई है मुझसे? मैंने तो देवता का धन सर्वभूतों में स्थित देवता की ही सेवा में लगाया है। इसमें तो भूल की कोई बात ही नहीं है।' वे देवता के रोष का कारण जानने हेतु सूर्य की ओर मुख करके उदयास्त गायत्री-जप करने लगे। इसी प्रकार तीन दिन बीत गये। उन्हें स्वप्न में या अन्य किसी भी प्रकार से देवता का कोई आदेश नहीं मिला। वे ऐसे व्याकुल हो गये कि अपने सर्वज्ञत्व की शक्ति के विषय में भी भूल गये।

संध्या के बाद भवदेव चुपचाप अपने कमरे में बैठे हुए थे। तभी एक पुजारिन छाया के समान हाथ जोड़े धीरे-धीरे उनके सामने उपस्थित हुई। भवदेव ने पूछा, 'कौन हो तुम?'

– "कौमुदी।"

– "तुम्हें मेरे कक्ष में प्रवेश का साहस कैसे हुआ?"

– "कारण है, इसीलिये साहस करके मैंने आपके पवित्र कक्ष में प्रवेश किया है। आप मेरी प्रार्थना पूरी कीजिये, मैं निश्चित रूप से आपका कल्याण करूँगी।"

– "तुम एक देवदासी हो, तुम मेरा भला क्या कल्याण करोगी! बल्कि यह बोलो कि मैं तुम्हारा क्या भला कर सकता हूँ। तुम तो जानती ही हो कि मैं शरणागत को कभी वापस नहीं लौटाता।"

– "देव, यदि आप मुझे इस निष्ठुर जघन्य दासीव्रत से छुटकारा दें, तो मैं इस नारकीय वृत्ति से मुक्त हो सकूँगी।"

– "पवित्र कुमारी-व्रत, पवित्र प्रेम – सब सत्य है, परन्तु आज ऐश्वर्य के विष ने मन्दिर के देवता का कण्ठ तक अवरुद्ध कर दिया है – मैं सब जानता हूँ कौमुदी – मुझे इस छल, इस कपटता का अन्त करना ही होगा। जाओ, मैं तुम्हें मुक्त करता हूँ। अब रहस्य को खोल दो।"

– "देव, वह देववाणी मेरा ही कण्ठस्वर है।"

– "तुम्हारा कण्ठस्वर !"

– "हाँ प्रभो, मेरा ही कण्ठस्वर है। यात्रियों को आकृष्ट करने के लिये भानुराग ने मुझे जावा द्वीप से यहाँ लाकर कुमारी-व्रत में दीक्षित किया था।"

– "उसके बाद?"

– "उसके बाद प्रवालरुचि तथा शंखद्युति के अनुरोध पर मैंने देववाणी बन्द कर दी।"

– "कारण?"

– "इससे मुझे विवाह की अनुमति मिल जायेगी और सेवाकार्य बन्द हो जायेगा।"

– "तुम अपने गुण का प्रदर्शन कर सकती हो?

– "अभी करती हूँ, प्रभु।"

(ऊपर से ध्वनि हुई – "भवदेव की जय हो"।)

भवदेव ने दृढ़ कण्ठ से पुकारा, "प्रवालरुचि।"

प्रवालरुचि सम्मानपूर्वक आकर खड़े हो गये। – "जिस मन्दिर में मनुष्यता को नहीं, बल्कि छल-कपट को स्थान दिया जाता है, वहाँ मैं पल भर भी नहीं रह सकता। मेरा आदेश है कि आज रात को ही तुम कौमुदी के साथ शंख का गन्धर्व-मत से विवाह कर दो और जो भी देवदासी विवाह करना चाहती हो, उसे मैं मुक्ति प्रदान करता हूँ।"

प्रवालरुचि आँखें फाड़कर देखते रहे, मानो कुछ बोलना चाहते हों।

– "मेरे आदेश का तत्काल पालन किया जाय।"

– "जो आज्ञा प्रभु।"

– "मैं आज ही जगन्नाथ की शरण लेने के लिये यात्रा कर रहा हूँ। वहाँ कठोर तपस्या के द्वारा प्रवंचक-अध्यक्षता रूपी पाप का प्रायश्चित्त करूँगा।"

भवदेव ने जाकर कठोर तपस्या की, परन्तु जब भी उनके मन में उस धोखेबाजी तथा निष्ठुरता की बात उठती, तभी उनके मन में आता कि वहाँ जाकर सारा भण्डाफोड़ कर दूँ

और पापियों के लिये प्रायश्चित्त करूँ। अट्ठारह वर्ष बीत गये, परन्तु अब भी उनके हृदय की ज्वाला असह्य बनी हुई थी। वे कोणार्क की ओर चल पड़े।

अगले रविवार को उत्सव था – देववाणियाँ फिर शुरू हो चुकी थीं। आचार्य प्रवालरुचि को आज स्वप्न में सूर्यदेव ने क्या आदेश दिया है, देववाणी के पूर्व वे एक ऊँचे मंच पर खड़े होकर सबको बतायेंगे। उनका उच्च कण्ठ ध्वनित हो उठा, "सज्जनो, आज सूर्यदेव ने मुझे जो आदेश दिया है, वही मैं आपके समक्ष घोषित करता हूँ। भवदेव जैसे अनधिकारी को अध्यक्ष पद पर नियुक्त करने के कारण रुष्ट होकर उन्होंने देववाणी बन्द कर दी थी। उसकी यथेच्छाचारिता का प्रमाण आप सभी को मिल चुका है। उसने देवता का धन मनुष्य के भोग में लगाया था, कौमुदी तथा अन्य देवदासियों का कुमारी-व्रत भंग कराकर उनका जबरन विवाह करा दिया था। अस्तु, अब वह इसके लिये प्रायश्चित्त कर रहा है। पर भविष्य में उसे इस मन्दिर में प्रवेश का अधिकार नहीं होगा। हमारा अनुमान था कि अब तक उसकी मृत्यु हो चुकी होगी, परन्तु आदित्यदेव ने स्वप्न में सूचित किया है कि वह आज ही इस सभा में उपस्थित होगा। उसके सिर पर गैरिक वस्त्र होगा।" सबकी दृष्टि एक भिक्षुक पर जाकर टिक गयी।

"यदि वह क्षण भर के लिये भी इस स्थान पर ठहरेगा, तो देववाणी फिर बन्द हो जायेगी।" समवेत जनता चिल्ला उठी, "उसे निकाल बाहर करो, उसे निकाल बाहर करो।"

युवक को धक्के मारकर अश्वद्वार के रास्ते बाहर निकाल दिया गया।

* * *

सड़क पर थके-माँदे पड़े भवदेव ने स्वप्न देखा – सूर्य-मण्डल के मध्य में स्थित स्वर्ण-मुकुट-केयूर-कुण्डल-धारी पुरुष मृदु हास्य के साथ कह रहे थे, "भवदेव, मानवता का स्थान मन्दिर में नहीं, मानव-हृदय में है। तुम हृदय-मन्दिर के पुजारी हो। वह देखो, गंगा के तट पर सहस्रशीर्ष पुरुष की अगली विश्ववेदी प्रस्तुत हो रही है।"

कहते हैं कि अगले दिन रात को एक भीषण गड़गड़ाहट की आवाज हुई। सुबह नगरवासियों ने उठकर देखा कि वहाँ मन्दिर नहीं, बल्कि एक विशाल स्तूप मात्र पड़ा है।

कथा समाप्त हुई। पण्डाजी छाया के समान न जाने कहाँ लुप्त हो गये – हम लोगों में से कोई भी समझ नहीं सका।

('उद्बोधन', वर्ष ३४, अंक १ से अनुवादित)
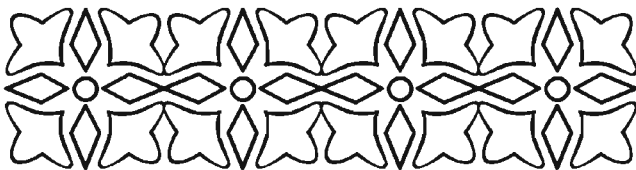
सिखाता क्या नहीं दर्पण

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

कभी भी भूलकर आँसू
बहाता है नहीं दर्पण,
सभी से तुम रखो समता,
सिखाता है यही दर्पण ।।

सभी को उर लगाओ तुम,
किसी को भी न ठुकराओ,
सदा सुख हो कि या दुख हो
सभी के काम तु आओ,
नहीं तुम राग ही रक्खो
नहीं तुम द्वेष ही पालो,
रहो तुम यों सदा निर्मल
बताता है यही दर्पण ।।

धनी हो या कि हो निर्धन
नहीं वह भेद करता है,
न हँसता रूपसी-कर में,
कुरूपों से न डरता है ।
न कोई जाति है उसकी
न कोई रंग है उसका,
अरे ! तुम कौन? कैसे हो?
दिखाता है सही दर्पण ।।

दिवा हो या निशा, जब भी,
कभी उसको उठा लो तुम,
निरालस कर्म-पथ में है
कभी भी आजमा लो तुम ।
अगर तुम चाहते हो सुख तो
न भूलो तथ्य जीवन का,
'चरैवेति-चरैवेति'
सिखाता है यही दर्पण ।।

भले वह टूट जाये पर
नहीं 'निजता' मिटाता है,
कभी प्रतिरूप देने में
न आँखें ही चुराता है ।
तपस्वी मूक-योगी है,
अरे! तुम मर्म क्या जानो,
सदा निरपेक्ष खुशियाँ ही
लुटाता है यही दर्पण ।।

संस्कृत साहित्य और श्रीरामकृष्ण-भावधारा (४)

स्वामी विदेहात्मानन्द

भावधारा के विचारों की संस्कृत भाषा के माध्यम से व्याख्या तथा प्रस्तुति करनेवाली कुछ अन्य पुस्तकें –

(ङ) श्रीरामकृष्ण उपनिषत् – मूल तमिल – चक्रवर्ती राजगोपालाचार्यः, संस्कृत अनुवाद – एम. ई. रंगाचार्य, प्रकाशक रामकृष्ण मठ, बैंगलोर, संस्करण १९९३, पृ. ८१। भारतीय राजनीति में 'राजाजी' के नाम से प्रसिद्ध भारत के भूतपूर्व तथा एकमात्र भारतीय गवर्नर-जनरल श्रीयुत राजगोपालाचारी ने श्रीरामकृष्ण के उपदेशों तथा बोधकथाओं के आधार पर एक लेखमाला लिखी, जो 'कल्कि' नामक तमिल पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुई। इसमें शृंखला में कुल ३५ लेख छपे। इनका अंग्रेजी अनुवाद बम्बई के 'भवन्स जर्नल' पाक्षिक में क्रमशः छपा। बाद में मद्रास के रामकृष्ण मठ ने इन लेखों का संग्रह करके उसे एक पुस्तिका का रूप दिया। यह पुस्तिका अनेक भाषाओं में अनुवाद होकर प्रकाशित हुई और आज भी लोकप्रिय बनी हुई है। शिमोगा के प्राध्यापक श्री रंगाचार्य ने इन लेखों का सहज सरल संस्कृत भाषा में रूपान्तरण किया है।

(च) स्वामि-विवेकानन्दानां हृद्गतम् – भाऊसाहेब खरे, दर्यापुर (पुस्तिका – स्तोत्रपंचकम्, प्रकाशक – बाबासाहेब आपटे स्मारक समिति, नागपुर, १९७३। इसके पृष्ठ ६-७ पर, स्वामी विवेकानन्द के 'सखा के प्रति' कविता के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों को ६ संस्कृत श्लोकों में निबद्ध किया गया है। हम इन सभी श्लोकों को तथा उनके भावार्थ के रूप में हिन्दी पद्यानुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं –

अत्यन्तावहितं श्रुणु प्रिय सखे, शंसामि ते हृद्गतम्।
अस्मिञ्जन्मनि यन्नितान्त-परमं सत्यं मयाऽऽसादितम्।
प्रशिप्तं भवसागरेऽत्र जननावर्तोर्मिभिः सन्ततम्।
नेतुं या प्रभवेञ्जनं परतटं सैकेव नौ-वर्तते ।।१।।

तुम्हें सुनाता बन्धु आज, निज अन्तर के उद्गार,
जान गया हूँ जीवन में, बस एक सत्य है सार;
घोर तरंगों से आकुल है, भव-समुद्र अनिवार,
एक नाव केवल ऐसी है, जो ले जाती पार ।।

नाना-दैवत-पूजनस्य विधयः शास्त्राण्यशेषाणि च
अन्यान्यानि च दर्शनानि निचयस्त्यागस्तथा सम्पदाम्।
विद्ध्यैतां सदृशांश्च तैः स्वमनसो ह्याभासमात्रानिति
सत्यं प्रेम सनातनं च सकलाधारं निधानं परम्।२।।

मंत्र-तंत्र, चाहे जो कर लो, अथवा प्राणायाम,
'मत' अपना लो चाहे कोई, पढ़ लो शास्त्र-ललाम;
त्याग करो या भोग – सभी है, मति का भ्रम-अविवेक,
'प्रेम-प्रेम' बस 'प्रेम' मात्र ही, है धन-सम्पद् एक ।।

अव्यक्तस्य भवान-संशयमनास्तस्याशभागादितो।
हृद्देशे भवतः प्रशान्तविततः प्रेमोदधिर्विद्यते।
प्रत्याशां त्यज, देहि वित्तमखिलं मुक्तेन हस्तेन च
प्रत्याशा हि नयेद्रविः सर इव प्रेमोदधिं बिन्दुताम् ।।३।।

तुम अधिकारी हो अनन्त के, सारा विश्व तुम्हारा,
सदा उमड़ता तव अन्तर में, प्रेम-सिन्धु वह न्यारा;
देता रहे निरन्तर कोई, मगर करे प्रत्याशा,
उसका सिन्धु बिन्दु होकर, लायेगा घोर निराशा ।।

ब्रह्मादीन् विबुधान्नरान् खगपशुन् क्षुद्रान् कृमीनन्ततः।
आकाशस्थ-विशाल-गोलकगणान् अदृश्यमानानणून।
व्याप्य प्रेमदयामयो हि सकलान् ईशः स एव स्थितः।
स्वात्मानं स्वशरीरमानसयुतं तेभ्यः सदैवार्पय ।।४।।

ब्रह्मा से अति सूक्ष्म कीट तक, जग है जिसका श्वास,
वही प्रेममय सब जीवों में करता नित्य निवास;
अपना तन-मन-प्राण और इस जीवन का भी प्रतिक्षण,
इन सबके चरणों में करते रहो, सतत ही अर्पण ।।

रूपाण्यनेकानि भवत्पुरस्तात्।
ईशस्य चित्राणि समुत्थितानि ।।
चिनोषि चेदीशमुपेक्ष्य तानि।
व्यर्थः श्रमस्ते भविता न संशयः ।।५।।

बहु रूपों में विचरण करते, प्रभु सामने तुम्हारे,
इन्हें छोड़ तुम उन्हें ढूँढ़ते, फिरते मारे-मारे;

भवत्यमून्प्राणभृतोऽखिलान् यः।
समत्वबुद्ध्या खलु निर्विशेषम्।
भजत्यसाधारणभक्तियुक्तः
स ईश्वरं प्रेमदयानिधानम् ।।६।।

सब जीवों से प्रेम करे जो, बलिहारी उस नर की,
वही कर रहा सेवा-पूजा, परम ब्रह्म ईश्वर की ।।

(छ) धर्मः – स्वामी आगमानन्द, अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण अद्वैत आश्रम, कालटि (कालड़ी, केरल) ई. १९५५, पृ. ७९ – उक्त विषय पर लेखक के कुछ व्याख्यान मलयालम भाषा में प्रकाशित हुए थे, उसी का यह संस्कृत रूपान्तर है। सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री वे. राघवन इसके विषय में लिखते हैं – "रामकृष्ण मठ, कालडी के स्वामी आगमानन्द ने हाल में ही **धर्म** पर एक संस्कृत प्रबन्ध लिखा है, जिसमें राजनीति और अर्थशास्त्र की अपेक्षा धर्म की मीमांसा की गई है।"[४४]

(ज) ब्रह्मसूत्र-विवेक-भाष्यम् – शरत्चन्द्र चक्रवर्ती द्वारा रचित। लेखक स्वामी विवेकानन्द के एक गृहस्थ शिष्य तथा संस्कृत भाषा के धुरन्धर विद्वान् थे। उन्होंने स्वामीजी के

४४. आज का भारतीय साहित्य, १९५८, दिल्ली, पृ. ३०९

पर कई स्तोत्रों तथा भक्तिगीतों की रचना की है और उनके वेदान्त-विषयक विशिष्ट विचारों को प्रस्तुत करने हेतु भगवान वेदव्यास द्वारा रचित वेदान्त के सर्वप्रमुख ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' पर आचार्यों की परम्परा में एक विस्तृत भाष्य की रचना की। दुर्भाग्यवश यह ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित ही है।

(ङ) महानारायण उपनिषद् – संस्कृत टीका तथा अंग्रेजी अनुवाद। लेखक स्वामी विमलानन्द, प्रकाशक रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९५७, पृ. ३६०। विमलानन्दजी संस्कृत के एक मूर्धन्य विद्वान् थे और अनेक भारतीय भाषाओं के ज्ञाता थे। इस ग्रन्थ में उन्होंने उपनिषद् की विस्तृत भूमिका तथा व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ लिखी हैं।

७. स्तोत्र साहित्य

श्रीरामकृष्ण, माँ श्री सारदादेवी तथा स्वामी विवेकानन्द तथा उनसे सम्बद्ध अन्य व्यक्तित्वों को लेकर असंख्य स्तोत्रों की रचना हुई है। सबका आकलन करना तथा विवरण देना असम्भव है। संस्कृत के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री वेंकट राघवन लिखते हैं, "रामकृष्ण-विवेकानन्द आन्दोलन ने अब तक संस्कृत में कुछ स्तोत्र निर्मित किये हैं। यद्यपि जैसा कि हम आगे बतायेंगे, इस आन्दोलन के दोनों संस्थापक कई साहित्यिक कृतियों के विषय बने हैं।[४५]

स्तोत्र-रचना की परम्परा का श्रीगणेश स्वयं स्वामी विवेकानन्द ने ही किया। तदुपरान्त स्वामी अभेदानन्द, रामकृष्णानन्द, सारदानन्द आदि गुरुभाइयों और स्वामी विरजानन्द तथा शरच्चन्द्र चक्रवर्ती आदि शिष्यों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। परवर्ती काल में असंख्य लोगों ने इसने योगदान किया।

ये स्तोत्र संकलन के रूप में बड़े ग्रन्थों के रूप में भी छपे हैं और छोटी पुस्तिकाओं के रूप में भी। इनमें से सर्वप्रमुख प्रकाशनों का विवरण निम्नलिखित प्रकार है –

(१) श्रीरामकृष्ण-स्तोत्र-रत्नाकर (बँगला लिपि में) स्वामी अभेदानन्द द्वारा रचित सानुवाद संस्कृत स्तोत्रों का संकलन। बंगीय सं. १३३१, पृ. ६५। बाद में इसे परिवर्धित रूप में स्वामी अभेदानन्द के अंग्रेजी ग्रन्थावली (खण्ड ७, पृ. ३१९-३८०) में देवनागरी लिपि में 'Songs Divine' शीर्षक के साथ अंग्रेजी अनुवाद सहित मुद्रित किया गया।[४६]

(२) सपार्षद श्रीरामकृष्ण-रत्न-स्तोत्रमाला – हिन्दी अनुवाद – डॉ. मोहन चन्द्र मिश्र, प्रथम सं. १९८२, रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम, बारासात (प.बंगाल), पृ. १२+३१२। इसमें हिन्दी अनुवाद के साथ कुल १०८ स्तोत्र हैं, जिनमें श्रीरामकृष्ण पर ४०, श्रीमाँ सारदादेवी पर २८, स्वामी विवेकानन्द पर १७, श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्यों के प्रणाम सह १६ और गुरु-गंगा-गणेश आदि देवी-देवताओं के ७ स्तोत्रों का संकलन हुआ हैं।

इन स्तोत्रों के रचयिताओं में प्रमुख हैं – स्वामी विवेकानन्द, स्वामी अभेदानन्द, स्वामी सारदानन्द, स्वामी त्रिगुणातीतान्द, स्वामी रामकृष्णानन्द, स्वामी विरजानन्द, प्रमदादास मित्र, ब्रह्मचारी मेधाचैतन्य, स्वामी हर्षानन्द, श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती, डॉ. यतीन्द्रविमल चौधुरी, डॉ. रमा चौधुरी, विधुभूषण भट्टाचार्य, ओट्टूर उन्नी नम्बूद्रीपाद, प्रा. त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर, प्रा. पाँचूगोपाल वन्द्योपाध्याय, आचार्य आनन्द झा, आत्मप्रज्ञ, स्वामी अमृतानन्द, श्रीमती देवकी मेनन, प्रा. दुर्गादास गोस्वामी, कालीपद वन्द्योपाध्याय, स्वामी जीवानन्द, स्वामी अचलानन्द, जीवन्याय भट्टाचार्य, स्वामी गुणातीतानन्द, स्वामी भावघनानन्द, प्रा. कुमुदरंजन गोस्वामी, श्री डी. आर. कल्याण सुन्दर शास्त्री। बहुलांश बँगला के 'उद्‌बोधन' पत्रिका से संकलित हुए हैं।

(३) श्रीरामकृष्ण-सहस्रनाम-स्तोत्रम् – टी. ए. भण्डारकर तथा पाँचूगोपाल वन्द्योपाध्याय (संकलक – स्वामी अपूर्वानन्द) संस्करण १९८४, श्रीरामकृष्ण आश्रम, इन्दौर, पृ. ३५, भूमिका – स्वामी आत्मानन्द। इसमें 'विष्णु-सहस्र-नाम' की परम्परा में श्रीरामकृष्ण के हजार नामों को २०० श्लोकों में निबद्ध किया गया है।

(४) श्रीरामकृष्ण-सहस्रनाम-स्तोत्रम्, (सहस्र-नामार्चना-सहितम्) अनुवाद-टीका-सह, रचनाकार – प्रा. त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर; सह-रचनाकार, अन्वय-शब्दार्थ तथा आशय-अनुवादक – पाँचूगोपाल वन्द्योपाध्याय, सम्पादक – आचार्य आनन्द झा, (संयोजक – स्वामी अपूर्वानन्द) संस्करण १९७५, रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम, बारासात (प. बंगाल), पृ. ९+१९६। इस संस्करण में पूर्वोक्त ग्रन्थ २०० श्लोकों के अन्वय, शब्दार्थ, भावार्थ आदि भी दिये गये हैं। पुस्तक के अन्त में श्रीरामकृष्ण-अर्चना के १००० मंत्र दिये हुए हैं और अन्त में श्रीरामकृष्ण की नित्य-पूजाविधि का भी सविस्तार विवरण है। (रा.आ.ग्रं. रा.वि. १५७) अंग्रेजी अनुवाद के साथ इसका प्रकाशन चेन्नै के रामकृष्ण मठ से हुआ है।

(५) श्रीरामकृष्ण-सारदा-नामामृतम् – हिन्दी अनुवाद सहित (संयोजक – स्वामी अपूर्वानन्द) संस्करण १९७६, रामकृष्ण शिवानन्द आश्रम, बारासात (प. बंगाल), पृ. १०४। इस पुस्तिका में विभिन्न स्तोत्रों आदि के साथ ही है – (१) प्रा. त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर द्वारा रचित 'श्रीरामकृष्ण-अष्टोत्तर-शतनाम-स्तोत्रम्' को अनुवाद सहित दिया गया है, (२) उसी के आधार पर प्रो. डॉ. ए.सी. भट्टाचार्य द्वारा रचित 'श्रीरामकृष्ण नामामृतम्' भी दिया गया है (३) प्रा. भण्डारकर द्वारा रचित 'श्रीशारदा-नामामृतम्' और (४) 'श्रीशारदा-नवकम्'।

४५. आज का भारतीय साहित्य, वे. राघवन, १९५८, पृ. ३००

४६. श्रीरामकृष्ण-परिक्रमा, कालीजीवन देवशर्मा, भाग २, पृ. ७३

(६) श्रीशारदा-देव्यष्टोत्तरशत-नाम-स्तोत्रम् – स्वामी हर्षानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, बैंगलोर, सं. १९९०, पृ. ३० – इसमें पुस्तिका में २४ श्लोकों में निबद्ध **'श्रीशारदा-देव्यष्टोत्तरशत-नाम-स्तोत्रम्'** है और साथ में **'श्रीशारदा-देव्यष्टोत्तरशत-नामावलिः'** भी है। इसमें श्रीमाँ के १०८ नामों के अंग्रेजी में भावार्थ भी दिये गये हैं।

(७) श्रीरामकृष्ण-सुप्रभातम् – ओट्टोर उन्नी नम्बूदरीपाद, अंग्रेजी अनुवाद – तुलसी-तीर्थन् , प्रकाशक – स्वामी कैवल्यानन्द, श्रीरामकृष्ण आश्रम, कयमकुलम् (केरल), सं. २००४, पृ. १२६। प्रात:काल मन्दिरों में देवता को शयन से जगाने के लिये 'सुप्रभातम्' गाने की परम्परा है। दक्षिण भारत में श्री वेंकटेश्वर-सुप्रभातम् अत्यन्त लोकप्रिय है। रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित 'स्तवनांजलि' ग्रन्थ में स्वामी अचलानन्द सरस्वती तथा स्वामी हर्षानन्दजी द्वारा रचित 'श्रीरामकृष्ण-सुप्रभातम्' स्तोत्र संकलित हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक में कुल १३ श्लोक हैं। वर्तमान ग्रन्थ में श्री ओट्टोर द्वारा रचित उसी विषय पर कुल १०० श्लोक हैं। उनके द्वारा रचित कुल ११८ श्लोक 'तुलसी-सुगन्धम्' पत्रिका के मई १९६७ तथा उसके बाद के अंकों में क्रमश: प्रकाशित हुए थे। उन्हीं में से १०० श्लोकों को संकलित कर वर्तमान ग्रन्थ का रूप दिया गया है। इसे देवनागरी, मलयालम तथा तमिल लिपियों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया गया है। इसकी भूमिका स्वामी सिद्धिनाथानन्दजी ने लिखी है और श्री राजीव इरिंजलकुड़ा ने कवि की संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत किया है।

(८) श्रीरामकृष्ण-सहस्रनाम-स्तोत्रम्, रचना – एम. रामकृष्ण भट्ट, बैंगलोर १९५०।

(९) संकीर्तन-संग्रह, रामकृष्ण आश्रम, बम्बई, प्रथम सं. १९७५, पृ. ७२। इसमें पाँच संकीर्तनों तथा रामकृष्ण मठ तथा मिशन में प्रतिदिन प्रार्थना के रूप में गाये जानेवाले आरती-स्तव का संकलन है। इनमें से प्रथम श्रीरामनाम-संकीर्तन, सम्भवत: महाराष्ट्र के एक कीर्तनकार श्री विठोबा अन्ना दफ्तरदार द्वारा रचित है। रामकृष्ण संघ के प्रथम अध्यक्ष स्वामी ब्रह्मानन्दजी ने अपनी दक्षिण भारत यात्रा के दौरान इसे बैंगलोर के कुछ भक्तों द्वारा गाये जाते हुए सुना। उन्होंने उसे वहाँ से संग्रह करके १९११ ई. में इसे बेलूड़ मठ से एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित कराया तथा प्रति एकादशी को रामकृष्ण मठ तथा मिशन के हर केन्द्र में इसके गायन की परम्परा आरम्भ की। उनकी इच्छानुसार बाद में स्वामी गुणातीतानन्द जी ने शिवनाम-संकीर्तन लिखा, जो स्वामी शिवानन्दजी की भूमिका के साथ प्रकाशित हुआ। इसी प्रकार गुणातीतानन्दजी के द्वारा ही क्रमश: श्यामनाम-संकीर्तन तथा सारदानाम-संकीर्तन भी लिखे गये। स्वामी हर्षानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण-नाम-संकीर्तन लिखा। उपरोक्त पुस्तिका में उपरोक्त सभी का संकलन प्रस्तुत किया गया है।

९. प्रमुख रचनाकारों का परिचय

यतीन्द्रविमल चौधुरी (डॉ.) – १९०८-१९६४। १९२८ में बी.ए. के बाद लन्दन गये। १९३४ में 'विमेन इन वैदिक रिचुअल' पर पी. एच. डी. उपाधि मिली। लन्दन में ही सेवारत। १९३८ में रमा चौधुरी से विवाह और भारत लौटकर बंगीय संस्कृत शिक्षा परिषद् के सचिव हुए। बंगाल शिक्षा समिति के सचिव। प्रेसीडेंसी कॉलेज में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष। कोलकाता विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता। बाद में संस्कृत कालेज के प्राचार्य। प्राच्यवाणी (इंस्टीट्यूट ऑफ ओरियेंटल लर्निंग) के संस्थापक। पत्नी के सहयोग से 'प्राच्यवाणी' आंग्ल त्रैमासिक का सम्पादन। कृतियों में हैं – विवेकानन्द-चरित (चम्पू), भारतविवेक, शक्तिसारदम्, मुक्तिसारदम्, आदि।[४७]

रमा चौधुरी (डॉ.) – डॉ. यतीन्द्रविमल चौधुरी की पत्नी। उल्लेखनीय कुल-परम्परा। पिता बैरिस्टर सुधांशु मोहन बोस बंगीय पब्लिक सर्विस कमीशन के अध्यक्ष। पितामह – बैरिस्टर आनन्द मोहन बोस भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष। मामा – प्रा. ए.सी. बैनर्जी प्रयाग विश्वविद्यालय के अध्यक्ष। पिता के मामा – महान् वैज्ञानिक सर जगदीशचन्द्र बसु। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से डी.फिल. की उपाधि प्राप्त। ३० वर्षों तक कोलकाता के लेडी ब्रेबोर्न कॉलेज की प्राचार्या। ७ वर्षों तक रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय की कुलपति। कई सांस्कृतिक संस्थाओं की सदस्य तथा अध्यक्ष। १९७० में जर्मन सरकार द्वारा सम्मानित। १९७१ में रूस सरकार के निमंत्रण पर रूस-यात्रा। पति के दिवंगत होने के बाद चार वर्षों के दौरान २० नाटकों का सृजन। भारत तथा विदेशों में अनेक बार अपने तथा अपने पति डॉ. यतीन्द्रविमल चौधुरी के नाटकों का मंचन तथा निर्देशन। साहित्य अकादमी की जनरल कौंसिल तथा संस्कृत मण्डल की सदस्य। कृतियों में – निवेदिता-निवेदितम्, अभेदानन्द, रसमय-रासमणि, आदि।[४८]

वर्णेकर, श्रीधर भास्कर (डॉ.) – जन्म १९१८। नागपुर में माध्यमिक तथा उच्च शिक्षा। १९३९ में काव्यतीर्थ। १९४१ में एम.ए. (संस्कृत), १९४५ एम.ए. (मराठी), १९६६ में 'अर्वाचीन संस्कृत साहित्य' प्रबन्ध पर नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा डी.लिट् की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त। अध्यापन – १९४१ से १९५९ तक धनवटे नेशनल कॉलेज। तदुपरान्त नागपुर विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर विभाग में नियुक्ति। १९७०-७९ तक संस्कृत विभागाध्यक्ष। १९७३ में शिव-राज्योदय महाकाव्य (६८ सर्ग, ४००० श्लोक) पर साहित्य

४७. संस्कृत वाङ्मय कोष, खण्ड १ पृ. ४१८ **४८.** वही, पृ. ४२२

अकादमी पुरस्कार। नागपुर की अनेक सांस्कृतिक संस्थाओं के अध्यक्ष रहे। संस्कृत में १८ ग्रन्थों का सृजन किया।[४९ल] उल्लेखनीय – श्रीरामकृष्ण-परमहंसीयम् या युगदेवता-शतकम् (खण्ड-काव्य) और विवेकानन्द-विजयम् (महानाटक)।

वेंकटराम राघवन् (डॉ.) पद्मभूषण – जन्म १९०८ ई. तिरुवायुर, जिला तंजौर में। पिता – वेंकटराम अय्यर। १९३५ में प्रेसिडेंसी कॉलेज, मद्रास से 'शृंगारप्रकाश' पर पी.एच.डी.। १९३५ से १९५५ तक यूरोपीय संग्रहालय में भारतीय पुरातत्त्व के ग्रन्थों का पर्यालोचन। संस्कृत के कई हस्तलिखित ग्रन्थों का प्रकाशन। ऑल इंडिया ओरिएंटल कांफ्रेंस के श्रीनगर अधिवेशन तथा विश्व-संस्कृत-सम्मेलन के दिल्ली अधिवेशन के अध्यक्ष। मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष। विदेशी संस्कृत संस्थाओं द्वारा प्रायः आमंत्रित। कविकोकिल, सकल-कला-कलाप, विद्वत्कवीन्द्र तथा पद्मभूषण आदि उपाधियों से विभूषित। १९५९ में मद्रास संस्कृत रंगमंच के संस्थापक। अलंकार-शास्त्र-विषयक २५ ग्रन्थों का प्रकाशन किया। साहित्य अकादमी की संस्कृत पत्रिका 'प्रतिभा' के सम्पादक रहे। कृतियाँ – नरेन्द्रो विवेकानन्दः।[५०] चेन्नै के रामकृष्ण मठ द्वारा प्रकाशित होनेवाली अंग्रेजी पत्रिका 'वेदान्त-केसरी' में १९४० से १९६५ के दौरान उनके अनेक लेख प्रकाशित हुए। १९५४ के जनवरी अंक में श्रीसारदादेवी-षोडसी-स्तुति और १९६३ के विवेकानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर स्वामीजी पर स्तोत्र लिखा।

गजानन बालकृष्ण पलसुले (डॉ.) – जन्म १९२१ में सतारा महाराष्ट्र में हुआ। १९४९ में पुणे से एम.ए. करने के बाद संस्कृत धातुपाठों पर शोध-प्रबन्ध लिखकर १९५७ में पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। आधुनिक वैयाकरणों में आप सम्मानित हैं। भण्डारकर प्राच्यविद्या मन्दिर में शोध एवं अध्यापन किया। १९८१ में पुणे विद्यापीठ के प्राध्यापक पद से सेवानिवृत्त होने के बाद भण्डारकर-प्राच्यविद्या-मन्दिर के निदेशक हुए। संस्कृत भाषा का तौलनिक तथा ऐतिहासिक परिचय करानेवाले पॉल डायसन द्वारा जर्मन भाषा में लिखित 'सिक्सटी उपनिषदाज् ऑफ द वेदाज्' का अनुवाद और १०० से भी अधिक शोध-निबन्धों के अतिरिक्त डॉ. पलसुले ने अनेक नाटक लिखे हैं, जिनमें प्रमुख हैं – समानस्तु वो मनः, विवेकानन्द-चरितम् आदि। इन्होंने मराठी की अनेक कविताओं तथा नाटकों का संस्कृत में अनुवाद किया।[५१]

जीव न्यायतीर्थ भट्टाचार्य – जन्म १८९४ ई. में पश्चिमी बंगाल के भट्टपल्ली (भाटपाड़ा) ग्राम में हुआ। पंचानन तर्करत्न के पुत्र थे। गुरु काशीनिवासी म. म. राखालदास। १९२९ में कोलकाता विश्वविद्यालय में संस्कृत के प्राध्यापक और बाद में भट्टपल्ली के संस्कृत कॉलेज में प्राचार्य हुए। प्रणव-पारिजात तथा अर्थशास्त्र पत्रिकाओं के सम्पादक। राष्ट्रपति पुरस्कार से सम्मानित। १९५५ से सटीक महाभारत का सम्पादन।[५२] विवेकानन्द-चरितः (३ अंकी रूपक) और 'विवेकानन्द-संघः'। इनके द्वारा रचित 'श्रीविवेकानन्द-प्रशस्तिः' शीर्षक स्तोत्र उद्‌बोधन मासिक (१९६३) में प्रकाशित होकर स्वामी अपूर्वानन्द जी द्वारा उनके 'युगाचार्य-विवेकानन्द' ग्रन्थ में संकलित हुआ है।

पण्डिता क्षमादेवी राव – प्रसिद्ध कवयित्री। जन्म १८९० ई. में पुणे में। पिता शंकर पाण्डुरंग पण्डित। बचपन में पितृवियोग। पति मुम्बई के डॉ. राघवेन्द्र राव। अनेक भाषाओं तथा क्रीड़ाओं में नैपुण्य। अंग्रेजी तथा मराठी में लेखन। १९३० से महात्मा गाँधी के प्रभाव से संस्कृत में लेखन शुरू किया। सत्याग्रह, सन्तों के चरित्र पर तथा विविध विषयों पर संस्कृत में अनेक कथा-काव्य-नाटकों की रचना की। अपने पिता का चरित्र – 'शंकर-जीवनाख्यानम्' को मूल संस्कृत में तथा स्वयं किये हुए आंग्ल अनुवाद के साथ भी प्रकाशित किया।[५३] उपरोक्त ग्रन्थ में स्वामीजी के पोरबन्दर-प्रवास का सुन्दर वर्णन हुआ है।

ओट्टोर बाल भट्ट (ओट्टोर उन्नी नम्बूदरीपाद) (१९०४-१९८९) का जन्म केरल के पालघाट जिले में स्थित मयनूर-ओट्टपालेम में हुआ था। आठ वर्षों तक उन्होंने अपने पिता के निर्देशन में ऋग्वेद-संहिता का अध्ययन किया। इसी दौरान उन्होंने संस्कृत व्याकरण तथा साहित्य का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। पर १७ वर्ष की आयु में उन्होंने अंग्रेजी पढ़ना आरम्भ किया और उनकी इच्छा थी कि आधुनिक शिक्षा प्राप्त करने इंग्लैंड जायँ, पर स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण वे दसवीं की परीक्षा भी पास नहीं कर सके।

२२ वर्ष की आयु में जब उन्होंने स्वामी विवेकानन्द का साहित्य पढ़ना आरम्भ किया, तो उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष ज्ञान-भक्ति का मानो एक नया विश्व ही उद्‌घाटित हो गया और कुछ काल बाद श्रीरामकृष्ण-जीवनी पढ़ने पर उनके जीवन का मानो पूरा रूपान्तरण हो गया। तब से वे निरन्तर एक अभिनव आनन्द में तन्मय रहने लगे। बाद में वे स्वामी निर्मलानन्द के सम्पर्क में आये और २८ वर्ष की आयु में उनके शिष्य बन गये। तुलसी महाराज के शिष्य होने के कारण वे स्वयं को तुलसीदास कहा करते थे।

ओट्टोर ने १४ वर्ष की आयु में अपनी मातृभाषा मलयालम में पहली कविता लिखी। उस भाषा के कृष्णभक्त कवियों में

४९. संस्कृत वाङ्मय कोष, खण्ड १, पृ. ४३६-३७;
५०. वही, पृ. ४५९; **५१.** वही, पृ. ३६७
५२. वही, पृ. ३२९;
५३. वही, पृ. ३०४-०५; स्वामीजी का महाराष्ट्र भ्रमण, पृ. ११-१५

वे एक विशेष स्थान रखते हैं। संस्कृत में अब तक उनके चार काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं – रस-माधुरी, राधा-विलास, श्रीरामकृष्ण-कर्णामृतम् और श्रीरामकृष्ण-सुप्रभातम्।[५४] 'वेदान्त-केसरी' मासिक के १९७६ से १९८४ के अनेक अंकों में 'अघोरमणि देवी' तथा 'अवतार-वरिष्ठ श्रीरामकृष्ण' शीर्षक संस्कृत काव्यों का अंग्रेजी अनुवाद सहित धारावाहिक प्रकाशन हुआ। मलयालम मासिक 'तुलसी-सुगन्धम्' में भी उनकी अनेक संस्कृत रचनाएँ असंकलित पड़ी हैं।

१०. संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद-ग्रन्थ

श्रीरामकृष्ण तथा उनके शिष्यों के अवतरण के साथ-ही-साथ भारतवर्ष तथा सम्पूर्ण विश्व में एक नये जागरण की शुरुआत हुई। स्वामी विवेकानन्द ने इस युग के लिये एक नारा दिया – "वन के वेदान्त को घर-घर पहुँचाओ।" उनकी भावधारा से अनुप्राणित होकर संस्कृत धर्मशास्त्रों में निबद्ध रत्नकोष का विश्व के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद तथा व्याख्यात्मक ग्रन्थों के रूप में व्यापक रूप से लेखन तथा प्रचार-प्रसार हो रहा है। वेदान्त-प्रचार के इस आन्दोलन में रामकृष्ण संघ के प्रकाशन केन्द्रों तथा विद्वान् संन्यासियों की भी एक प्रमुख भूमिका रही है। संस्कृत शास्त्र-ग्रन्थों के अंग्रेजी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद करनेवालों में प्रमुख हैं – स्वामी स्वरूपानन्द, माधवानन्द, जगदानन्द, वीरेश्वरानन्द, गम्भीरानन्द, निखिलानन्द, तपस्यानन्द, शर्वानन्द, चिद्घनानन्द, लोकेश्वरानन्द, धीरेशानन्द, वेदान्तानन्द, विश्वरूपानन्द, भावघनानन्द, जुष्टानन्द आदि आदि।

इन विद्वान् संन्यासियों के अथक प्रयास के फलस्वरूप आचार्य शंकर, रामानुज, श्रीधर तथा अन्य महत्त्वपूर्ण व्याख्याकारों द्वारा उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र तथा गीता पर संस्कृत में लिखित भाष्यों-टीकाओं तथा विभिन्न प्रकरण ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद आज सर्वसुलभ हैं। श्रीमद्-भागवतम्, अष्टावक्र-संहिता, अवधूत-गीता, उद्धव-गीता, सांख्य-कारिका, वेदान्त-परिभाषा, तर्कसंग्रह तथा अन्य अनेक विशिष्ट संस्कृत ग्रन्थों के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, जो संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ पाठकों के लिये विशेष लाभकारी हैं।

शास्त्रों की व्याख्या लिखनेवालों में प्रमुख हैं – स्वामी विवेकानन्द, अभेदानन्द, भूतेशानन्द, रंगनाथानन्द, विमलानन्द, आत्मानन्द और हर्षानन्द। संस्कृत शास्त्रों पर आधारित इनके ग्रन्थों में निहित विचार अपने असंख्य पाठकों के लिये ज्ञान तथा आशा के ज्योति-स्तम्भ हैं।

५४. द्र. श्रीरामकृष्ण-कर्णामृतम् तथा श्रीरामकृष्ण-सुप्रभातम् की भूमिका

११. निष्कर्ष

आधुनिक संस्कृत साहित्य को रामकृष्ण संघ के असंख्य संन्यासियों तथा गृही भक्तों व अनुरागियों का अवदान काफी महत्त्वपूर्ण तथा प्रभावकारी है। श्रीरामकृष्ण, माँ सारदा तथा स्वामी विवेकानन्द की प्रेरणा से रचित इस विशाल साहित्य-सम्पदा ने संस्कृत साहित्य की आधुनिक परम्परा में उल्लेखनीय योगदान किया है। हमें आशा है कि वैदिक काल से ही चली आ रही यह प्रागैतिहासिक परम्परा आनेवाले भविष्य में भी चिरकाल तक निरन्तर चलती रहेगी। ❖ **(समाप्त)** ❖

दृढ़ इच्छा-शक्ति

– स्वामी सत्यरूपानन्द

स्वामी विवेकानन्द जी ने अपने एक व्याख्यान में कहा है कि Human will is divine. हमारे ये नगर, नगरों के बड़े-बड़े प्रतिष्ठान आदि सब मनुष्य की इच्छा-शक्ति के ही सुफल हैं।

इस युग में विज्ञान के जो विभिन्न चमत्कार दिख पड़ रहें हैं, जिन वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण मनुष्य का जीवन उन्नत और सुखी हुआ है, चिकित्सा के क्षेत्र में जिन औषधियों के अविष्कारों से मनुष्य रोग-मुक्त हुआ है, उन सबके पीछे किसी एक या एकाधिक व्यक्ति की दृढ़ इच्छा-शक्ति अवश्य रही है। जिस व्यक्ति ने अपने मन में यह दृढ़ संकल्प कर लिया था कि किसी रोग को दूर करने का उपाय वह अवश्य खोज निकालेगा। उदाहरणार्थ लगभग सौ वर्ष पूर्व तक क्षयरोग (टी.बी.) निमोनिया, मलेरिया आदि रोगों की कोई सफल अचूक औषधि नहीं थी। कुछ दृढ़ इच्छा-शक्ति सम्पन्न चिकित्सकों ने इन रोगों के प्रतिरोधक औषधियों की खोज में दृढ़तापूर्वक अपनी सारी शक्ति लगा दी और अन्तत: वे सफल हुए। आज सारी पृथ्वी में हजारों रोगी इन महौषधियों के कारण इन रोगों से मुक्त होकर सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इन सबके पीछे एक या एकाधिक व्यक्तियों की दृढ़ इच्छा-शक्ति ही कार्य कर रही थी।

आज सारे विश्व में वायुयानों के द्वारा मनुष्य अल्पकाल में ही विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक आ जा रहा है। जीवन के लिये आवश्यक वस्तुएँ, औषधियाँ, विभिन्न यन्त्र आदि एक स्थान से दूसरे स्थान पर अल्प समय में ही पहुँचा दी जाती हैं। आज से लगभग १२५ वर्ष पूर्व कोई इसकी कल्पना भी नहीं कर सकता था। किन्तु अमेरिका के राइट बन्धुओं की दृढ़ इच्छाशक्ति ने वह यन्त्र बनाया, जिसकी सहायता से मनुष्य प्रथम बार हवा में उड़ सका। इसके पश्चात् भी लगन तथा दृढ़-इच्छाशक्ति सम्पन्न व्यक्तियों ने वायुयान आदि का चरम विकास किया और आज तो मनुष्य चन्द्रमा तथा मंगल ग्रह तक अपने राकेट भेजने में समर्थ हुआ है।

हमें यह स्मरण रखना होगा कि ये सब चमत्कार मनुष्य की दृढ़ इच्छा-शक्ति, लगन तथा अध्यवसाय के ही परिणाम हैं। दृढ़ इच्छा-शक्ति ईश्वर द्वारा मनुष्य को ही दी गई एक महान शक्ति है। इस शक्ति के समुचित प्रयोग से मनुष्य अपने जीवन का सर्वांगीण विकास कर सकता है।

मनुष्य के जीवन में विभिन्न प्रकार की इच्छायें होती हैं। इनमें शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की इच्छायें होती हैं। अशुभ इच्छाओं को हम सामान्यत: वासना कहते हैं। ये वासनायें मानव-मन की शुभ एवं नैतिक भावनाओं को दुर्बल कर देती हैं, जिससे मनुष्य के मन में स्थित अशुभ या पशु वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं तथा मनुष्य दुश्चरित्र होकर पतित हो महादु:ख पाता है।

इस पतन और दु:ख से मुक्ति का एक मात्र उपाय है – शुभ इच्छा को प्रबल और दृढ़ कर अशुभ भावनाओं एवं इच्छाओं को अपने मन में उखाड़ फेंकना।

जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता, विकास और उन्नति के लिए दृढ़ इच्छा-शक्ति परम आवश्यक है। कोई भी व्यक्ति अध्यवसायपूर्वक अभ्यास के द्वारा अपनी इच्छा-शक्ति को बलवान और दृढ़ कर सकता है। इसका एक सरल उपाय है चरित्रवान तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति सम्पन्न व्यक्तियों का संग करना तथा साथ-साथ सद्ग्रन्थों का अध्ययन एवं मनन करना। इन उपायों के द्वारा मनुष्य अपने जीवन में आमूल चूल परिवर्तन कर सकता है।

विभिन्न विद्याओं और कलाओं में मनुष्य जैसे दीर्घकाल के निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही निपुणता प्राप्त करता है, उसी प्रकार इच्छा-शक्ति को भी दृढ़ एवं बलशाली करने के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है।

मनुष्य की प्रत्येक इच्छा स्वयं में इच्छा-शक्ति नहीं होती। मनुष्य को विवेकपूर्वक विचार कर कुछ शुभ इच्छाओं के साथ अपनी कल्पना शक्ति तथा आत्मविकास को उन सद्-इच्छाओं के साथ जोड़ना पड़ता है एवं दृढ़ विश्वासपूर्वक अपनी चयनित इच्छा या इच्छाओं को कार्यान्वित करने के लिये निरन्तर संघर्ष एवं प्रयत्न करना होता है। निरन्तर उद्योग एवं अध्यवसाय इच्छा शक्ति को दृढ़ करने के अमोघ उपाय हैं। महाकवि कालिदास का जब विवाह हुआ था, तब वे एक अपठित मूर्ख ही थे। किन्तु विवाह के पश्चात् उन्हें जब अपनी दुर्बलता एवं अयोग्यता का बोध हुआ, तब उन्होंने दृढ़तापूर्वक यह निश्चय कर लिया कि अपनी इस अज्ञानी अवस्था को दूर कर विद्वान् बनूँगा। तब उन्होंने विद्या अर्जन किया तथा हमारे देश के संस्कृत के कवियों में महाकवि कालिदास कहलाये। महाकवि कालिदास के जीवन की सफलता एवं विद्या-अर्जन के पीछे आत्म-विश्वास एवं दृढ़ इच्छा-शक्ति ही थी।

अत: मनुष्य को अपने जीवन की सार्थकता एवं सफलता के लिये जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र चुन लेना चाहिए, जो सर्व -हितकारी हो तथा उस कार्य के सम्पादन में अपनी इच्छा-शक्ति को दृढ़तापूर्वक नियोजन कर देना चाहिए। यदि हम नियमित रूप से दीर्घकाल तक इसका अभ्यास करेंगे, तो हमारा जीवन निश्चित रूप से सार्थक एवं आनन्दमय होगा।

गीता : अपने व्यवहारों को समझने और बदलने के लिये

डॉ. प्रभुनारायण मिश्र

मनुष्य का व्यवहार समझना एक कठिन कार्य है। हर मनुष्य जटिल है। यदि वह मात्र जटिल होता तो उसे समझने में अधिक परेशानी न होती। रॉकेट, कम्प्यूटर आदि जटिल मशीनें हैं, परन्तु उन्हें समझना बहुत कठिन नहीं है। मनुष्य जटिल होने के साथ-साथ विचित्र भी है। एक व्यक्ति जैसा दूसरा कोई अन्य नहीं है। रॉकेटों को समझने के लिए एक रॉकेट को समझ लेना पर्याप्त है, परन्तु एक मनुष्य को समझकर सारे मनुष्यों को नहीं समझा जा सकता। वैसे एक मनुष्य को भी समझ पाना बहुत मुश्किल कार्य है – वह हर समय बदलता रहता है। मनुष्य अपने खुद के समझ में भी पूरी तौर पर नहीं आता है। हमारे ही व्यक्तित्व का एक ऐसा हिस्सा होता है, जिसे न हम खुद और न दूसरे ही जानते हैं। हमारे व्यक्तित्व के कुछ पहलुओं को दूसरे तो जानते हैं, पर हम खुद उनसे अनभिज्ञ रहते हैं। उदाहरणार्थ, हमारा कोई तकिया-कलाम होगा; उठने, बैठने, चलने की कोई विशेष शैली होगी, जिसके प्रति हम स्वयं जागरूक नहीं हैं, परन्तु अन्य लोग उसे जानते हैं। हम अपने व्यक्तित्व का कुछ हिस्सा खुद भी छिपाए रहते हैं, जिसे हम तो जानते हैं, परन्तु दूसरे नहीं जानते। हमारे अपने स्वभाव और व्यक्तित्व का बहुत ही छोटा हिस्सा ऐसा होता है, जिसे हम भी जानते हैं और दूसरे भी।

मनोविज्ञान की एक बहुत बड़ी पहेली है कि मनुष्य कोई कार्य क्यों करता है, वह किसी विशेष प्रकार का व्यवहार क्यों करता है। कभी-कभी हम स्वत: कुछ ऐसा कर देते हैं जिसका कोई स्पष्टीकरण अपने पास नहीं रहता। किसी से लड़ गए, किसी से वाद-विवाद कर लिया, बाद में पछताते हैं और समझ में नहीं आता कि हमने ऐसा क्यों किया। कोई ऐसी शक्ति थी, जिसने मेरे न चाहते हुए भी मुझसे कुछ ऐसा करा लिया, जिससे मैं खुद सहमत नहीं हूँ। ठीक ऐसा ही एक प्रश्न अर्जुन ने गीता में श्रीकृष्ण के सामने रखा है –

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।

अर्थात् वह कौन-सी शक्ति है जिससे प्रेरित होकर मनुष्य – मानो बलात् करवाया गया-सा – ऐसा अनुचित कार्य कर बैठता है, जिसे वह स्वयं भी करना नहीं चाहता। मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस प्रश्न का उत्तर प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है और भगवान कृष्ण ने भी इस पर प्रकाश डाला है। आइए, हम दोनों उत्तरों की तुलना करें। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार हर कार्य के पीछे एक प्रेरणा होती है। बिना प्रेरणा के कोई कार्य नहीं होता। इस पर एक प्रश्न उठता है कि व्यक्ति कुछ ऐसा कार्य क्यों कर जाता है, जिसे वह खुद पसन्द नहीं करता? वह अपने स्वतंत्र विवेक से ऐसा कार्य कदापि न करता। उसके पीछे की प्रेरणा उसे स्वत: ज्ञात नहीं है। पुनः मनोविज्ञान का तर्क आता है कि हर कार्य के पीछे प्रेरणा होती ही है। वह प्रेरणा हमारे अचेतन मन में छिपी रहती है। इसका ज्ञान हमको नहीं रहता है। यदि कोई प्रेरक शक्ति हमारे अचेतन मन में छिपकर हमारे कार्य और व्यवहार का निर्धारण कर रही है, तो हम उस शक्ति के सामने लाचार हैं। अचेतन मन में छिपी वह प्रेरक शक्ति सक्रिय हुआ करेगी और हमसे हमारी अपनी मर्जी के विपरीत कार्य कराती रहेगी। हम लाचार बने रहेंगे और अपनी खुद की इच्छानुसार व्यवहार करने में असफल होते रहेंगे। स्पष्टत: इस प्रकार का उत्तर हमें बताता है कि हम विवेचित व्यवहार कर ही नहीं सकते। मनुष्य के रूप में मैं चाहूँगा कि मैं अपनी इच्छानुसार व्यवहार करूँ। मैं कुछ अनुचित करके पश्चाताप और ग्लानि न करूँ। मेरी इच्छा होगी कि मैं जैसा चाहूँ वैसा व्यवहार कर सकूँ। उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण मुझे इसीलिए स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि यह प्रतिपादित करता है कि सैद्धान्तिक रूप में यह सम्भव नहीं है कि व्यक्ति अपने व्यवहार पर नियन्त्रण रख सके। इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण क्या कहते हैं –

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्धि एनम् इह वैरिणम्।।

अर्थात् काम ही क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न होता है। यह कभी तृप्त नहीं होता, महापापी है। हे अर्जुन ! इसी को तुम बैरी जानो। रजोगुण से उत्पन्न होने वाली कामनाओं के कारण ही हम अपने व्यवहार पर से अपना नियन्त्रण खो देते हैं, अत: रजोगुण-प्रणीत कामनायें ही हमारी प्रमुख शत्रु हैं। गुण का तात्पर्य यहाँ खूबी या विशेषता नहीं, बल्कि यह प्रकृति का सूक्ष्म अवयव है। प्रकृति त्रिगुणमयी है, वे तीनों गुण हैं – सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण। इन तीनों गुणों की अपनी विशेषतायें हैं। प्रकृति की सारी गतिविधि इन्हीं तीनों गुणों के विविध संयोगों से होती है। प्रकृति में ये गुण एक-दूसरे को दबाकर बढ़ते-घटते रहते हैं। गीता के अनुसार-सत्त्वगुण से चेतना और विवेक शक्ति उत्पन्न होती है। रजोगुण से लोभ, कामनाएँ, भोगों की लालसा और अशान्ति उत्पन्न होती है और तमोगुण से प्रमाद, कर्म में अरुचि तथा निद्रा उत्पन्न होती है। इस विवरण के आधार पर हम यह

ज्ञात कर सकते हैं कि कब कौन-सा गुण प्रबल है। श्रीकृष्ण ने शत्रु का नाम स्पष्ट रूप से बता दिया और उसे पहचानने के कुछ लक्षण भी बता दिए।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण – इन तीनों गुणों की प्रधानता वाले व्यक्तियों के व्यक्तित्व अलग-अलग होते ही हैं। भोजन के प्रति उनकी रुचियाँ भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। सात्त्विक व्यक्ति सरस, चिकना, चिरस्थायी तथा मन को प्रिय लगनेवाला आहार पसन्द करता है। ऐसा आहार आयु, तेज, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाता है। कड़वा, खट्टा, नमकीन, अति गर्म, तीक्ष्ण, रूखा तथा जलानेवाला आहार रजोगुणियों को प्रिय होता है। यह आहार दु:ख, शोक और रोग देनेवाला होता है। अधपका, नीरस, दुर्गन्धियुक्त, बासी, जूठा और अपवित्र आहार तमोगुणी पुरुषों को प्यारा होता है। इस प्रकार भोजन की पसन्द के आधार पर भी हम सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी व्यक्ति की पहचान कर सकते हैं। सात्विक व्यक्ति आसक्ति से रहित बिना राग-द्वेष के तथा फल की इच्छा से मुक्त होकर कार्य करता है। जो कर्म बहुत परिश्रम से, फल की आशा लिए हुए और अहंकार युक्त होकर किए जाते हैं, वे राजसिक कर्म कहलाते हैं। इनका कर्ता राजसिक होता है। जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य का विचार न करके केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामसिक है, उसका कर्ता भी तामसिक है। गीता के अध्याय चौदह, सत्रह एवं अठारह में उपलब्ध विवरणों के आधार पर हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि कौन-सा व्यक्ति किस गुण के प्रभाव में है। श्रीकृष्ण ने यह उत्तर नहीं दिया कि कार्य की प्रेरणायें हमारे अचेतन मन में छुपी रहती है, बल्कि उन्होंने स्पष्ट रूप से रेखांकित कर दिया कि किस गुण के प्रभाव में मनुष्य स्वत: अपनी इच्छानुसार कार्य करने में असमर्थ हो जाता है। व्यक्तियों की प्रवृत्ति, खाने-पीने की रुचि कर्म के प्रति दृष्टिकोण, बुद्धि के स्वभाव आदि के विश्लेषण से हम तत्काल निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्ति किस गुण के प्रभाव में है। जो आसक्ति से रहित, अहंकारमुक्त, धैर्य और उत्साहपूर्वक, सफलता-असफलता में समभाव रहकर कार्य करता रहता है, वह सात्त्विक है। जो व्यक्ति आसक्तिपूर्वक, फल प्राप्त करने के लिए, लोभ और हिंसा से प्रेरित, हर्ष व शोकयुक्त होकर तथा शुचिता का परित्याग करके कार्य करता है, वह राजसिक है। तामसिक व्यक्ति मूढ़, असभ्य, घमण्डी, शठ, द्रोही, विषादी, आलसी तथा दीर्घसूत्री होता है।

गीता हमें गुणों के प्रभाव को समझने की दृष्टि प्रदान करती है। गीता का अध्ययन करने वाला व्यक्ति स्वत: अपना और दूसरों का उचित मूल्यांकन कर सकता है। परन्तु क्या यह जानना मात्र पर्याप्त है कि मैं किस प्रकार का व्यक्ति हूँ तथा दूसरे किन गुणों के प्रभाव में हैं? नहीं, जानना मात्र पर्याप्त नहीं है। हमारे पास ऐसी विधियाँ भी होनी चाहिए, जिनकी सहायता से हम वांछित दिशा में अपना परिवर्तन कर सकें। गीता हमें ऐसी विधियाँ बताती हैं, जिनकी सहायता से हम अपने व्यवहार में परिवर्तन घटित करा सकते हैं।

अपने को बदलने की पहली शर्त है कि हम स्वयं को परिवर्तित करने की इच्छा रखते हों। यदि इस इच्छा का अभाव है तो कोई भी ग्रंथ अथवा गुरु हमारी सहायता नहीं कर सकता। परिवर्तन की इच्छा रखने वाले व्यक्ति के लिए श्रीकृष्ण अनेक उपाय बताते हैं। छठे अध्याय में वे ध्यान करने की विधि पर प्रकाश डालते हैं। गीता के अनुसार व्यक्ति को उचित आसन पर आरूढ़ होकर काया, सिर और ग्रीवा को एक सीध में रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर, दिशाओं को न देखते हुए, सावधान होकर परमात्मा में चित्त लगाना चाहिए। जब हम आत्मोन्नति के लिए किसी साधना में लगते हैं, तभी उसकी कठिनाइयों से परिचित होते हैं। ध्यान का उपदेश करना आसान है, परन्तु ध्यान करना वस्तुत: बहुत कठिन है। श्रीकृष्ण समर्थ गुरु हैं। वे साधनों की परेशानियों से परिचित हैं। अत: वे एक-से-एक आसान विधियाँ गीता के अनेक अध्यायों में बताते हैं।

नौवां अध्याय आत्मोन्नति एवं आत्मनियंत्रण की सरल विधियों का खजाना है। समस्त प्राणियों को ईश्वर में ही स्थित देखना, दृढ़-निश्चयपूर्वक ईश्वर के नाम और गुणों का संकीर्तन करना, अनन्य भाव से ईश्वर की पूजा करना, निष्काम भाव से ईश्वर का भजन करना, प्रेमपूर्वक प्रभु को पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पित करना, अपना हर कर्म परम सत्ता को अर्पित कर देना, आदि कुछ ऐसी साधनाएँ हैं, जिनका उल्लेख नौवें अध्याय में हुआ। ये सब-की-सब गुणकारी हैं, सबके अपने लाभ हैं। जैसे जब हम ईश्वर के नाम और गुणों का संकीर्तन करते हैं, तब वे ईश्वरीय गुण धीरे-धीरे हमारे व्यक्तित्व में भी आने लगते हैं।

संस्कारों का बन्धन कठोर होता है। कुछ लोगों में परिवर्तन शीघ्रता से घटित होता है और कुछ में धीरे-धीरे। परिवर्तन की धीमी गति से हमें कभी भी हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। संकल्पपूर्वक एक-एक कदम आगे बढ़ाते हुए हमें अपनी मंजिल की ओर बढ़ते रहना चाहिए।

साधना और तप से होने वाले लाभ अनुभवगम्य हैं। इन्हें मात्र तर्कों से नहीं समझा जा सकता। आम का स्वाद जानने के लिए आम खाना ही पड़ता है। आम का स्वाद जानने के लिए आम पर पुस्तक पढ़ना या भाषण सुनना अपर्याप्त है। गीता में बताई गई विधियों की शक्ति परखने के लिए आपको स्वत: अभ्यासी होना पड़ेगा। ❑❑❑

माँ सारदामणि के चरणों में

स्वामी निर्लेपानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(पिछले अंक से आगे)

माँ की अहैतुकी कृपा की बात, हृदय की बात है – यह बात क्या किसी दिन पूरी तौर से कही जा सकेगी? शायद नहीं। ७६ वर्ष की उम्र पूर्ण करने के बाद आज अन्तिम यात्रा के पूर्व अपनी सारी अनुभूतियों के साथ समझ पा रहा हूँ।

जन्मदात्री माता और जगन्माता। तेजी चिन्मयानन्द – स्वदेशी शचीन के महाप्रयाण का अन्तिम क्षण आ पहुँचा था। सुबह श्रीमाँ ऊपर थीं। शचीन की जन्मदात्री माँ रात में जगने के कारण निद्रामग्न थी। श्रीमाँ ने दृढ़ कण्ठ से कहा, "उसे मत बुलाओ। रो-रोकर बच्चे के जाने के पथ में विघ्न डालेगी। तुम लोग ठाकुर का नाम लेते रहो।" यही चित्र अब भी मेरे मानस-पटल पर अंकित है। दो-चार अन्य छोटी-मोटी घटनाएँ – माँ के दो त्यागी शिष्य थे। माँ ने एक से कहा, "बेटा, तुम उस दूसरे से मत मिलो। वह तुम्हारी बहुत हानि करेगा।" उत्तर में पहले ने कहा, "क्यों माँ! वह तो मेरा गुरुभाई है।" माँ ने कहा, "उससे क्या हुआ बेटा? सबकी सत्ता अलग-अलग है। श्रेणी अलग रहना।" बाद में पहले शिष्य ने बताया था, "माँ की बात न मानने से उस दूसरे से मुझे आजीवन अवर्णनीय कष्ट मिला।" उनकी कृपा का द्वार खुला है, पर कृपा हजम करना आसान नहीं। मन्दिर में बिल्ली रहती है, पर बिल्ली से हरिभक्ति नहीं होती। कितने लोग श्रीरामकृष्ण से बीस वर्ष जुड़े रहे, पर वे विवेकानन्द नहीं बन सके। लेकिन उन्होंने तो कृपा की थी।

शरत् महाराज एक दिन मुझसे बोले, "यदि कृपा मानते हो, तो जान लो कि कृपा की कोई शर्त नहीं होती। कृपा अहैतुक होती है।" बात सचमुच ऐसी ही है। हिसाबी बुद्धि के द्वारा यह सब समझना कठिन है। पर हम लोग युक्ति-तर्क में विश्वासी हैं, स्वभावत: सर्वदा विश्लेषण करते रहते हैं। माँ के साथ दस वर्ष की घनिष्ठता, अन्तरंगता तथा निवास के विषय में जितनी ही डुबकी लगाता हूँ, उतना ही उनकी कृपा के बारे में सोचकर विस्मित रह जाता हूँ। सौभाग्य से मैं सबसे छोटा था, अत: मेरे लिये उनका द्वार अबाध रूप से खुला था। माँ ने मुझसे कभी जरा भी संकोच नहीं किया। वे मेरी जन्मदात्री माँ से भी कहीं अधिक थीं।

पिता के देहान्त के बाद बड़े भैया (जिनकी पहली पुत्री मुझसे तीन वर्ष बड़ी थी) नितान्त पराये हो गये। एक ही मकान में रहने पर भी वे मुझे दुत्कारते रहते, किन्तु मैं उन्हें देखकर पहले ही भाग जाता, ताकि उनकी हवा मेरे शरीर को न लगे। हाल ही में मेरी माँ का देहान्त हुआ था। प्रतिदिन उनके थप्पड़-लात खाकर मैं परेशान था। पूरे पाँच वर्ष ऐसा ही चला। यह मानो मेरे संसार-रोग का पाँच वर्ष का भोग-काल था। उसके बाद पट-परिवर्तन हुआ। माँ और शरत् महाराज के सान्निध्य में जाते ही अपार स्नेह मिला! स्नेह ही कहूँगा, क्योंकि दूसरा कोई शब्द नहीं खोज पाता। मनुष्य का रूप होते हुए भी वे मनुष्य नहीं थे। अपने घर में स्नेह का पूर्ण अभाव था। साथ ही मठगृह में उस स्नेह-संवेदना का इतना प्राचुर्य कि जिससे जीवन परिपूर्ण हो जाये। दस से पन्द्रह वर्ष की आयु के दौरान प्रति सप्ताह माँ के पास जाने और उनके चरण-स्पर्श के सुयोग से माँ धीरे-धीरे कैसी सुन्दर भक्ति की नींव डाल रही थीं, यह आज बिल्कुल स्पष्ट है। खूब सुविधा मिली थी – बहुत-से लोगों की भीड़ में माँ को प्रणाम कर भागना नहीं; माँ ने पहचाना या नहीं पहचाना, इसकी भी कोई चिन्ता नहीं; योगीन के छोटे नाती के रूप में चिह्नित होकर उनके पास आना-जाना। फरक तो पड़ेगा ही। माँ की विशेष कृपा, विशेष दृष्टि मिलती थी!

दिन-पर-दिन समय बीतता गया। क्रमश: १९१५ ई. का सितम्बर माह आया। बड़े भाई की सांसारिक कूटनीति चरम सीमा तक पहुँचने लगी। तारीख मुझे याद नहीं, परन्तु वह मेरे जीवन का एक विशिष्ट दिन था। उस दिन उनकी पत्नी का कोई आदेश पालन न कर पाने के कारण दोपहर के समय वे मुझ पर बहुत लाल-पीली हुईं। शाम को मालिक के घर में घुसते ही मेरे नाम शिकायत हुई। भैया तुरन्त आग -बबूले हो गये। उन्होंने मुझे लात मारा, जिससे मैं दो-तीन सीढ़ियाँ लुढ़ककर छोटी सीढ़ी पर जा गिरा। ऊपर लौटने लगा, तो बिगड़ उठे, "तुम अभी घर से निकल जाओ। तुम लोगों की साधूगीरी-फाधूगीरी मैं नहीं मानता। अब और यहाँ नहीं रहने दूँगा। बहुत सहन कर लिया है, अब और नहीं।" यही कठोर वास्तविकता थी। जरा भी अतिशयोक्ति नहीं।

'मेरा घर', 'मेरा हिस्सा' – यह सब बुद्धि माया का एक जटिल बन्धन है। जीवन के प्रभात में ही माँ ने मेरा यह बन्धन काट दिया, यह बात उस समय नहीं समझ सका, अब वृद्धावस्था में थोड़ा-बहुत समझ पाता हूँ। माँ की कृपा दृष्टि पड़ी है। भैया द्वारा घर से भगाने पर मैं रोते हुए आँसुओं से सीना भिगाता हुआ माँ के घर भागा। माँ उस समय गाँव (जयरामबाटी) में थीं। शरत् महाराज का दुमंजला मकान तब तक पूरा नहीं बना था। कुछ भाग कच्चा था। वे रात को पक्की सीढ़ी से चढ़कर दुमंजले के दक्षिणी कमरे में सोते थे। दोपहर में खाने के बाद वे नीचे छोटे बैठक में बैठते और वहीं विश्राम तथा लिखना-पढ़ना करते। मुझे अस्त-व्यस्त उत्तेजित अवस्था में देखकर बोले, "क्यों रे! तू इस संध्या समय हठात् कैसे आया? उन्होंने सारा वृत्तान्त सुना। बोले, 'कोई बात नहीं, जाने दे, तू यही रह।" माँ के प्रतिनिधि, माँ के चिह्नित भारवाही शरत् महाराज में बाह्य अभिव्यक्ति बिल्कुल भी न थी। रात में उन्होंने मातृप्रेम से विगलित हृदय के साथ बड़े स्नेहपूर्वक कई चीजें खिलायीं। उन्होंने अपने ही कमरे में (जहाँ मैंने बीमार पूजनीय शशी महाराज का दर्शन किया और बाद में वहीं गोलाप-माँ का देहान्त हुआ।) स्वयं मेरे लिये बिस्तर तथा मच्छरदानी लगाकर मुझे अपने पास सुलाया। सुबह उठकर कहाँ शौच जाना होगा, कहाँ मुँह धोना होगा – सब समझा दिया। श्रीमाँ और शरत् महाराज मातृहीनों को मातृस्नेह का आस्वादन करानेवाले हैं।

माँ की कृपा से घर का बन्धन कट गया – दिनांक आदि याद न रहने पर भी, वह एक स्मरणीय शुभ पुण्यदिन था। १९१५ ई. का सितम्बर चल रहा था। दिसम्बर में माँ गाँव से आ जायेंगी। माँ-सारदा के शक्तिपीठ में रहने का अधिकार मिला। पीठदेवता और पीठशक्ति – माँ तथा उनके द्वारपाल शरत् महाराज और गोलाप-माँ का नित्य संगलाभ मिलेगा। रुदन के माध्यम से क्लेश-सन्तप्त होकर महामाता के आनन्द-लोक में प्रवेश मिला। तब कौन जानता था कि बागबाजार के अति निकट ही, श्रीरामकृष्ण की जीवन्त प्रतीक सारदा-माँ और सारदानन्दजी के रूप में, सुमेरु पर्वत के समान दो अति उच्च आध्यात्मिक चुम्बक नि:शब्द स्थित हैं। उनके पास जाना और कई वर्ष रात्रिवास करने का तात्पर्य है कि उनके अदृष्ट प्रभाव से हम लोगों के देह-मन में गहराई तक संचित भोग-कामना-कालिमामय अविद्या-अज्ञान के बुरे संस्कारों के स्तूप – कुकर्म के सारे लोहे-लक्कड़, कील, स्क्रू आदि सब क्रमश: अलग होकर समूल रूप से दूर हो जायेंगे। उस वर्ष के अन्त में माँ जयरामबाटी से उद्बोधन आयीं।

माँ कहती, "किसी का भाव नष्ट नहीं करना चाहिये।" १९१६ की घटना हैं। रसोईये की धोती सफेद, किन्तु मन तथा चरित्र मलिन थे। माँ से भात की हण्डी का स्पर्श हो जाने पर उसने भात नहीं खाया। माँ बेचैन – "अहा, यह मैंने क्या किया, ब्राह्मण के लड़के का खाना नहीं हुआ।" वह दुकान से खरीदकर खाने लगा। गोलाप-माँ समझातीं, "गोपीनाथ, ये कुलीन ब्राह्मण-महिला हैं, तू खा ले, इनके छूने से कोई दोष नहीं हुआ।" लेकिन कौन सुने! अन्त में कहता, "वे तो हमारी उड़िया ब्राह्मण नहीं है!" उद्बोधन में माँ काले पत्थर की थाली में भोजन करतीं। ठाकुर का प्रसादी गाय-का-घी उन्हें चाँदी की एक छोटी-सी कटोरी में दिया जाता। देखता – वे उबले आलू-भात में उस घी को मिलाकर सान लेतीं और जल्दी से थोड़ा-सा मुँह में डालकर कहतीं, "ओ गोलाप, बच्चे बैठे हैं, दे आओ।" शरत् महाराज आदि लड़के पहले माँ का प्रसाद मुँह में डालकर ही खाना शुरू करते। इस कारण थोड़ा-सा भी घी माँ के पेट में नहीं जाता था।

श्रीरामकृष्ण का जन्मोत्सव बंगाल के लिये एक विराट् धर्ममेला है। प्रति वर्ष यह मेला गंगा के पश्चिमी तट को आलोकित करते हुए बेलूड़ मठ में लगता है। खूब धूमधाम, खूब कीर्तन, खूब प्रवचन, खूब दूकानें। अधिकारी-भेद से जिसे जो अच्छा लगे, शामिल हो जाय। उस अवसर पर होरमिलर कम्पनी के चालू जहाज में ही लोग पंक्तिबद्ध होकर जाते, हम भी जाते। उद्बोधन के साधुगण हमें प्रतिवर्ष मुफ्त टिकट देते। माँ सुबह-सुबह थोड़ा मेलाभूमि घूमकर देख लेतीं और आंदूल का काली-कीर्तन शुरू से अन्त तक चार घंटे खूब मनोयोग से सुनतीं। भजन सदैव से उन्हें प्रिय रहा है। किसी-किसी वर्ष पुराने मन्दिर के बरामदे में बैठकर, तो किसी-किसी वर्ष मठ-भवन के दुमंजिले में महापुरुष के कमरे में बैठकर सुनतीं। एक बार की बात याद आती है। काली-कीर्तन खूब जमा था। मठ का परिवेश ही भिन्न हो गया था – सामने मठ के तट पर दक्षिणेश्वर की ओर गंगा प्रवाहित हो रही थीं। असंख्य श्रोतागण एकत्र थे। पूज्य राखाल महाराज ने मण्डप में सभी के साथ बैठकर दो-एक भजन सुने और भावस्थ हो गये। इसके बाद उठकर भीतर चले गये। बाहरी लोगों के सामने भाव संवरण ही उनका स्वभाव था। माँ ने ऊपर से कहलवाया, "दयामयी होकर माँ,..." भजन ने उनका हृदय छू लिया है, उसे दुबारा गाया जाय। उस दिन का सम्मिलन अति दुर्लभ था। महड़ा के प्रधान गायक मणि भट्टाचार्य – दोनों नेत्रों से मातृभक्ति की गंगा बहती थी, इस्पात के समान त्रिसप्तक कण्ठ, यथेच्छा उतार-चढ़ाव! कण्ठ से अविराम मधुक्षरण होता रहता। ये हमारे इस अंचल में काली-कीर्तन के भगीरथ थे। 'कालीनाम-पदावली' इन्हीं के ही पूज्य पिता 'प्रेमिक' महेन्द्रनाथ की अमर कृति है। सभा का उत्साह वर्धन करनेवाली हैं श्रीरामकृष्ण की शक्ति-स्वरूपिणी माँ और श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र स्वयं ब्रह्मानन्द।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

स्वामी प्रेमानन्द के संग में (१०)

(बाबूराम महाराज के नाम से सुपरिचित स्वामी प्रेमानन्दजी श्रीरामकृष्ण देव के एक प्रमुख शिष्य थे। वे बेलूड़ मठ के सर्वप्रथम व्यवस्थापक थे। मठ के मन्दिर में वे पूजा भी किया करते थे। स्वामी ओंकारेश्वरानन्द ने बँगला भाषा में हुए उनके अनेक वार्तालापों को लिपिबद्ध कर लिया तथा ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया था। वहीं से इनका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

रामकृष्ण मिशन की वार्षिक सभा

प्रथम परिच्छेद (सदस्यों के प्रति प्रेमानन्द का उपदेश)

रामकृष्ण मिशन की वार्षिक साधारण सभा के उपलक्ष्य में आज मठ में आनन्द का मेला लगा हुआ है। पूज्यपाद श्री राखाल महाराज, शरत् महाराज, बाबूराम महाराज आदि के एकत्र समावेश से मानो गंगा-यमुना तथा सरस्वती – तीन धाराओं में आ मिली हैं। इस मिलन के बावजूद इनका अपना अपना वैशिष्ट्य है, इनकी अपनी अपनी स्वाधीनता का बोध हो रहा है। ठाकुर ज्ञान, भक्ति तथा कर्म – सभी भावों के घनीभूत मूर्तिस्वरूप थे। स्थितप्रज्ञ स्वामी सारदानन्द निष्काम कर्म के, नित्यसिद्ध स्वामी प्रेमानन्द प्रेम-भक्ति के और योगसिद्ध स्वामी ब्रह्मानन्द ज्ञान के मूर्त विग्रह हैं।

आज ५ मार्च, १९१६ ई., रविवार का दिन है। मिशन की वार्षिक साधारण सभा होने वाली है। बागबाजार से पूजनीय शरत् महाराज तथा सान्याल महाशय नाव में और दुर्गापद बाबू, बैनर्जी महाशय, केदार बाबू, डॉ. काँजीलाल आदि अनेक गृही सदस्य भी मठ में आये हुए हैं।

६ मार्च, सोमवार, श्रीरामकृष्ण की जन्मतिथि

शाम को Visitor's room (दर्शक-कक्ष) में सभा आरम्भ हुई। पूजनीय स्वामी ब्रह्मानन्द सभापति हैं। पूजनीय स्वामी सारदान्द सचिव हैं। श्रद्धेय स्वामी सुबोधानन्द, शुद्धानन्द आदि मठ के लगभग सभी साधु तथा ब्रह्मचारियों और मिशन के गृही सदस्यों ने सभा में भाग लिया। कमरा लोगों से भर गया है।

स्वामी शुद्धानन्द द्वारा मिशन के आय-व्यय का हिसाब पाठ करने के बाद, हिसाब-परीक्षक तथा सदस्यों के निर्वाचन का कार्य समाप्त हुआ।

स्वामी ब्रह्मानन्द – (बाबूराम महाराज को) "बाबूराम, अब तुम इन लोगों को कुछ उपदेश दो। क्या ये लोग केवल हिसाब-किताब सुनकर और हाथ उठाकर (अर्थात् वोट देकर) चले जायेंगे?"

बाबूराम महाराज – (हाथ जोड़कर) "तुम राजा हो, तुम्हारे और शरत् महाराज के रहते मैं क्या उपदेश दूँगा?"

स्वामी ब्रह्मानन्द – "नहीं, तुम्हें कुछ बोलना ही होगा। कमरे-भर लोग तुम्हारी बात सुनने के लिए उत्सुक हैं। ये लोग इस दुपहरी की धूप में, पैसे खर्च करके, इतना कष्ट उठाकर यहाँ क्या केवल यह शुष्क हिसाब-किताब सुनने आये हैं? इनके प्राणों में थोड़ा अमृत ढाल दो।"

बाबूराम महाराज – "तुम्हारी बात भी क्या टाली जा सकती है?"

इतना कहकर वे बोलने लगे।

बाबूराम महाराज – "हाथी के दो प्रकार के दाँत होते हैं – एक बाहर का और दूसरा खाने के लिए भीतर का। हमारा यह प्रचार-कार्य (missionary work) हाथी के बाहरी दाँत के समान है। धर्मजीवन, समाजसेवा, देशसेवा – इन सबका मूल है चरित्र। यही नींव है, चरित्र यदि दृढ़ नहीं रहा, तो कोई भी कार्य भलीभाँति सिद्ध नहीं होगा। वाहवाही के सामने, उत्तेजना से वशीभूत होकर, कोई बड़ा कार्य कर डालने से ही कोई चरित्रवान नहीं हो जाता। प्रतिदिन के शुभ विचार तथा शुभ कर्मों के अभ्यास की समष्टि ही चरित्र है।

"तुम लोग सेवाश्रम करो या famine relief work (दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सेवा) आदि चाहे जो करो, परन्तु यदि तुम लोगों में चरित्र तथा अपने गुरुभाइयों के प्रति आपसी दृढ़ प्रेम तथा सहानुभूति न हो, तो वह सब कुछ भी नहीं है। चरित्र, पवित्रता और एकनिष्ठा चाहिए; तभी कुछ होगा, नहीं तो कुछ भी नहीं होगा। (गृही सदस्यों की ओर उन्मुख होकर) केवल मिशन के सदस्य बनने से ही काम नहीं चलेगा, ठाकुर के आदर्शानुसार अपना-अपना जीवन गढ़ लेना होगा। प्रेम के द्वारा जगत् को अपना बना लेना होगा। तुम लोगों की निःस्वार्थपरता, त्याग, पवित्रता आदि देखकर लोग सीखें। अपनी-अपनी 'अहंता' को विसर्जित करके, अभिमान-अहंकार को जलाकर भस्म करके, चित्तशुद्धि की ओर ध्यान देकर कार्य किये जाओ। अहंकार-अभिमान को मन से भगाकर, स्वयं को भगवान का दास समझते हुए सेवा करनी होगी।

पिछले पृष्ठ का शेषांश

मणि-कांचन योग है। गायकों के अहोभाग्य! मणिबाबू जैसे निरभिमान परमगुणी निर्लोभी ब्राह्मण प्राय: देखने में नहीं आते। जनस्रोत के बीच माँ की बॉडीगार्ड गोलाप-माँ खूब शोभित हो रही थीं। मैं आँखें फाड़े मुग्ध नेत्रों से देखता रहता। मानो ये इस राज्य के लोग ही न हों।

❖ (क्रमशः) ❖

"ठाकुर तो नाम नहीं चाहते थे, परन्तु उनका नाम फैल रहा है। स्वामीजी कहते – 'अरे, नाम-यश से मुझे घृणा हो गयी है।' कहते – **प्रतिष्ठा शूकरी-विष्ठा**। आप सभी चरित्रवान हों। मनुष्य से देवता हो जायँ, तभी समझियेगा कि मिशन का कार्य ठीक ढंग से चल रहा है। (हाथ जोड़कर) आप लोगों से मेरी यही हार्दिक प्रार्थना है।"

इसके बाद सभा विसर्जित हो गयी।

द्वितीय परिच्छेद – साधना किसे कहते हैं

रात को भोजन आदि के उपरान्त बाबूराम महाराज गंगा के सामने पूर्व की ओर के निचले बरामदे में बड़े बेंच पर बैठे हुए हैं। उत्तर की ओर के लम्बे बड़े बेंच पर केदार बाबू, देवेन्द्र नाथ वन्द्योपाध्याय (जमींदार) तथा ब्रह्मचैतन्य बैठे हुए हैं। कुछ अन्य साधु-ब्रह्मचारी तथा गृही भक्त भी कोई इधर-उधर खड़े हैं, तो कोई बैठे हुए हैं।

बाबूराम महाराज – "संसार में स्त्री, पुत्र, परिवार और काम-कांचन में मन बिखरा हुआ है। मन को बटोरने न देना ही अविद्या का कार्य है। परन्तु हम लोगों को मन को विषयों से खींचकर एक करना होगा; मन को एक करना ही साधन है। सूत से रेशा निकला रहे, मन के कोने में थोड़ी भी वासना रहे, तो मन भगवान में तन्मय नहीं होता। ध्यान-जप के साथ-ही-साथ मन में खूब विचार चाहिए – मन के किस कोने में वासना छिपी हुई है, उसे खोजकर बाहर निकालना होगा। उसे भगाना होगा। इसी को कहते हैं – उद्धरेत् आत्मना आत्मानम्। इसी प्रकार मन पर विजय पाने की आवश्यकता है, मन पर विजय कर पाने से ही आत्माराम हुआ जा सकता है – उसी को मुनि कहते हैं। नहीं तो, केवल जप या प्राणायाम किये जा रहा हूँ, परन्तु मन की अनन्त वासनाओं को भगाने का प्रयास नहीं कर रहा हूँ, उसे और भी फूल आदि से ढँककर रख रहा हूँ – ऐसा करने से काम नहीं चलेगा।"

थोड़ी देर चुप रहने के बाद वे फिर कहने लगे – "अहा, ठाकुर हम लोगों को कितना सब दिखा रहे हैं। पहले ठाकुर के उत्सव में, कल रात जितने भक्त आये थे, उतने आने से लगता कि बहुत हुए। (बैनर्जी महाशय की ओर उन्मुख होकर) महाशय, हम लोग क्षुद्र बुद्धि के लोग हैं, छोटा आधार लेकर आये हैं, उनका सब कुछ क्या ठीक-ठीक समझ पाते थे ! ठाकुर की कृपा से अब कुछ-कुछ समझ रहा हूँ। जानते हैं न, उनके पास बहुत-से लोग आया करते थे, कितने लोग उन्हें समझ सके हैं? जितने ही दिन बीतते जा रहे हैं, उतना ही देखता हूँ कि लोगों का आग्रह उनके प्रति बढ़ रहा है। ठाकुर जब आये हैं, तो निश्चित रूप से जान लीजिएगा कि सत्ययुग आरम्भ हो गया है।"

ढाका नारायणगंज, कामाख्या आदि पूर्वी बंगाल में प्रचार-कार्य के निमित्त श्री राखाल महाराज और बाबूराम महाराज के साथ अमूल्य महाराज, विश्वरंजन महाराज, गायक विनोद आदि मठ के अनेक साधु-ब्रह्मचारी भी गये थे। आज कई दिन हुए वे दल-बल के साथ मठ में लौट आये हैं। महाराज उसी विषय में बोल रहे हैं।

बाबूराम महाराज – "महाशय, मैं ढाका जाकर वहाँ भक्तों के साथ दिन-रात बातें किया करता था। इसीलिए वायु चढ़ जाने से रात में नींद नहीं आती थी। ठाकुर की बातें ही लेकर बोलता – अपनी खुद की तो कोई क्षमता नहीं है – उनकी बातें, उनके भाव लेकर ही बोलता – तो भी रात में नींद नहीं आती। क्षुद्र आधार है न !! और ठाकुर को देखा है – प्रति मुहूर्त उन्हें भाव, महाभाव और समाधि हो रहे हैं।

"ठाकुर के पास उनकी सेवा के लिए कोई अपवित्र आदमी टिक नहीं पाता था। ठाकुर की कृपा हुए बिना मैं उनके पास ठहर नहीं पाता। अब सोचता हूँ – कैसे था उनके पास !! थोड़ा-सा किसी भाव का उद्रेक होते ही वे समाधिस्थ हो जाया करते थे।

"एक दिन वे चैतन्य-लीला देखने (थियेटर) जाने वाले थे। मुझसे बोले, 'देख, वहाँ यदि समाधिस्थ हो जाऊँ, तो सभी लोग मेरी ओर देखने लगेंगे और सब गड़बड़ हो जायगा। तू मुझमें वैसी अवस्था आने की सम्भावना देखने पर अन्य विषय पर खूब बातें करना।' यही कहकर वे मुझे साथ ले गये थे। उसके बाद अभिनय देखते-देखते काफी प्रयास के बावजूद वे समाधिस्थ हो गये। मैं बारम्बार नाम सुनाता रहा, तब समाधि भंग हुई। इसी प्रकार भाव, महाभाव, समाधि होना उनके लिए स्वाभाविक था। वे बलपूर्वक मन को नीचे उतार रखने का प्रयास करते थे। और हम लोग अल्प आधार हैं न, उस थोड़े-से भाव, समाधि की उपलब्धि के लिए कितना साधन, भजन, तपस्या करते हैं ! फिर कोई-कोई थोड़ा-सा कुछ होते-न-होते ही लोगों के सामने दिखाने लगता है। (हास्य)

(वन्द्योपाध्याय महाशय की ओर उन्मुख होकर) "परन्तु महाशय, आप लोग चाहे जो भी कहें, माँ ठाकुरानी को देखता हूँ कि वे ठाकुर से भी बड़ी आधार हैं, वे शक्ति-स्वरूपिणी हैं, उनमें छिपा रखने की कितनी क्षमता है ! ठाकुर प्रयास करके भी सफल नहीं हो पाते थे, बाहर व्यक्त हो उठता था। माँ को भी भावसमाधि हो रही है, परन्तु क्या वे किसी को जानने देती हैं? उनमें धारण करने की कितनी शक्ति है !! बहू के समान घूँघट काढ़े रहती हैं। माँ के गाँव के सारे लोग सोचते हैं कि वे अपने भतीजे, भतीजियों के लिए यह सब कर रही हैं।"

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी आत्मानन्द (५)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं के चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। इसे बँगला ग्रन्थ 'स्वामीजीर पदप्रान्ते' से लिया गया है। हिन्दी अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

जैसे वे सुश्रृंखल तथा व्यवस्थित जीवन पसन्द करते थे, वैसे ही अपने मन में त्याग-वैराग्य का भाव भी जाग्रत रखते थे। कहते हैं कि उनके पास दो-एक धोती-कुरते, तौलिया तथा बिस्तर के रूप में एक दरी आदि जो कुछ भी था, बीच-बीच में वे उसकी पोटली बाँधकर उसे एक लाठी में झुलाकर देखते कि जरूरत पड़ने पर वे उसे स्वयं उठाकर चल सकेंगे या नहीं। वे प्राय: ही कहते, "मठ-आश्रम में ऐसे ढंग से रहना कि आवश्यकता होने पर पाँच मिनट में ही अन्यत्र जाने के लिये तैयार हो सको। साधु सर्वदा इसी प्रकार अनासक्त होकर रहेगा। यम की पुकार आ जाय, तो भी उसे जाने में विलम्ब न हो। वह वीर के समान चलना-फिरना करेगा।"

नवीन ब्रह्मचारी तथा संन्यासियों को दिये गये उनके उपदेश – साधना-पथ के पथिकों के लिये सदा-सर्वदा सावधानी बरतने के निर्देश हैं। चाल-चलन तथा बातचीत में वे पौरुष भाव को खूब प्रोत्साहन देते थे। पुरुषों में स्त्रीसुलभ कोमलता का भाव उन्हें बिल्कुल भी पसन्द न था। "यदि धर्मपथ में अग्रसर होना चाहते हो, तो मन से स्त्रैण भाव निकाल डालो। तुम इतना अवतार-अवतार करते हो, परन्तु अवतार क्या है, जानते हो? जिनके संकेत पर सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि तथा प्रलय हो रहा है, वे ही साढ़े तीन हाथ का रक्त-मांसमय शरीर धारण करके आये हैं। अवतार में विश्वास ही श्रद्धा-भक्ति का लक्षण है।" किसी भी तरुण साधु के उनके समक्ष अकारण ही मृदुता या जड़ता दिखाने पर वे उच्च कण्ठ से कह उठते, "यह क्या रे! वीर सैनिक के समान चलना, बोलना और कार्य करना। रजोगुण का आश्रय न लेने पर तमोगुण में डूब मरेगा।"

जैसे वे स्वयं नि:सम्बल रहते थे, वैसे ही वे अपने अन्य शिक्षार्थियों को भी त्याग का उपदेश दिया करते थे। किसी के एक रुपया देने पर भी वे बड़ी चिन्ता में पड़ जाते कि उसका क्या किया जाय और उसे मन्दिर में भेजने के बाद ही निश्चिन्त हो पाते। वे कहते, "स्वामीजी ने नियम बनाया था कि साधुओं के पास कोई व्यक्तिगत वस्तु नहीं रहेगी। इसीलिये हम लोग सब कुछ मठ में जमा कर दिया करते थे। ऋषीकेश से लौटते समय मेरे पास एक लोटा और कम्बल था, उसे भी मठ में पहुँचते ही वहाँ जमा कर दिया। ... मठ में एक बार मैं बीमार हो गया था। ओढ़ने के लिये मेरे पास कोई गरम वस्त्र न था। इस पर किसी का ध्यान नहीं गया, परन्तु स्वामीजी का ध्यान ठीक उस ओर गया। वे खेदपूर्वक बोले, "मैंने नियम बनाया था, इसीलिये तो इनमें से – जिसको जो मिला, सब लाकर मठ में जमा कर दिया। अब इन लोगों को कोई देखनेवाला भी नहीं है। कितने आश्चर्य की बात है!" यह कहकर वे अपना ही एक अच्छा कम्बल और तकिया लाकर अपने हाथ से मेरे बिस्तर पर लगा गये। इसके बाद ही उन्होंने सबको अपनी आवश्यक वस्तुओं को मठ में जमा करने से मना कर दिया।"

अपने जीवन के अन्तिम पर्व में भी आत्मानन्द वैसे ही नि:सम्बल संन्यासी बने रहे। वाराणसी में उनका यही स्वभाव दृष्टिगोचर होता। कोई उन्हें कुछ छोटी-मोटी चीज भी देता, तो वे उसे तत्काल आश्रम-प्रमुख के पास भेज देते। उनका अपना एक पुराना सन्दूक था, जिसमें दो गरम कपड़े तथा एक फलालैन का कुरता था। इन दो गरम कपड़ों में एक श्रीमाँ ने तथा दूसरा राजा महाराज ने उन्हें आशीर्वाद के रूप में दिया था। इसीलिये वे इन दोनों वस्त्रों को सिर से लगाते थे, कभी उपयोग नहीं किया। मित्र स्वामी शुद्धानन्द के काशी आने पर उनके हाथों उस सन्दूक की चाभी देते हुए उन्होंने कहा था, "यह लो, इस सन्दूक में जो कुछ है, उसे सन्दूक के साथ ही मठ में भेज दो। मैं अब इसे रख नहीं सकूँगा। तुम इसे मठाध्यक्ष के पास भेज दो। वे जिसको इच्छा, उसको देंगे। स्वामीजी का नियम है कि मठ का प्रत्येक साधु अध्यक्ष को सब कुछ देकर जायेगा। मैं जैसे भी होगा, किसी सस्ते चादर की व्यवस्था करके अगला जाड़ा निकाल दूँगा।" वे सामान्यत: एक कुरता, दो जोड़े कौपीन, दो धोतियाँ तथा एक गंजी ही अपने पास रखते थे। उन्होंने प्राय: अकिंचन भाव से ही ऋषीकेश, बद्रीनारायण तथा उत्तराखण्ड के अन्य दुर्गम तीर्थों का भ्रमण किया था। उनका कहना था, "साधु की यदि ईश्वर पर पूर्ण निर्भरता तथा विश्वास हो, तो उसे कभी भी अर्थाभाव नहीं होता।"

साधु-ब्रह्मचारियों के प्रति उनका उपदेश था – "संन्यास क्या है जानते हो? जिन लोगों का अन्न खाकर धर्मजीवन व्यतीत करना सम्भव हो सका है, उनके कल्याण हेतु, लोगों के कल्याण हेतु, जगत् के कल्याण हेतु देहपात कर देना।" 'आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च' का जो महामंत्र उन्होंने स्वयं

अपने गुरुदेव से प्राप्त किया था, स्वामीजी के ग्रन्थों को पढ़ाते समय उसका भाष्य ही उपरोक्त शब्दों में उनके मुख से निकला करता था।

विषयी लोगों के साथ अबाध रूप से मिलना-जुलना संन्यासी-ब्रह्मचारियों के लिये हानिकारक है – संसारी व्यक्ति यदि भक्त हो, तो भी वे चाहते थे कि उनके साथ व्यवहार करते समय आश्रमोचित मर्यादा की रक्षा करते हुए चला जाय। वे गृहस्थों के साथ अधिक मेल-जोल रखनेवाले या सामाजिक स्वभाव के साधुओं का तिरस्कार करते हुए कहते, "यह तुम्हारे साधुभाव को हानि पहुँचाकर तुम्हें बरबाद कर देगा।" साधुओं का शाम के समय शहर में जाकर घूमना या संध्या के बाद आश्रम के बाहर रहना वे अनुचित मानते थे। इस विषय में वे सावधान करते हुए कहते, "संध्या के बाद शहर में मत रहना। रात के समय शहर की मनमोहक चकाचौंध तथा सुन्दरता देखने पर मन उसी में उलझ जायेगा। संध्या के पूर्व ही आश्रम में लौट आना। आसन साधु की रक्षा करता है। रास्ता चलते समय दाहिने-बाएँ मत देखना।"

गप्प मारना, राजनीतिक चर्चा करना, समाचार-पत्र पढ़ना तथा हर विषय में अकारण ही कुतूहल रखना साधु-जीवन के लिये महा अनर्थकारी है – यह उनके स्वयं के आचरण तथा उपदेशों से तत्काल समझा जा सकता था। वे कहते, "गप्पबाजी मनुष्य को बरबाद कर डालती है। खूब सावधान रहना। कुछ काम न रहे, तो अपने कमरे में सोकर समय बिता देना, परन्तु गप्पबाजी में मत जाना। कोई गप्प मारने आये, तो कोई पुस्तक खोलकर पढ़ते रहना। देखोगे कि वह धीरे-धीरे खिसक जायेगा।" नये साधुओं को उपदेश देते समय वे प्राय: ही कहते, "जो संस्कार तुम्हारे मन में पहले से घुसे हुए हैं, उन्हीं को तो निकालना नहीं हो पा रहा है, फिर नये-नये संस्कार क्यों घुसाते हो? यह जानूँगा, वह देखूँगा – यह सब भाव साधु-जीवन के लिये बिल्कुल भी अच्छा नहीं है।" एक तरुण साधु ने उनसे पूछा था, "कहाँ बाढ़ आयी है और कहाँ अकाल पड़ा है – यह सब समाचार बिना अखबार पढ़े कैसे जान सकूँगा?" वे तत्काल मधुर झिड़की देते हुए बोल उठे, "तुम मठ के अध्यक्ष तो हो नहीं! वे वह सब जानकर तुम लोगों से जैसा कहेंगे, तुम वैसा ही करना। ईश्वर-प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। उसी के लिये ब्रह्मचर्य तथा संन्यास का कठोर व्रत धारण किया जाता है। इनकी साधनाओं में जो कुछ विरोधी लगे, या जिससे चित्त में विक्षेप उत्पन्न हो, उसे निर्मम भाव से त्याग देना होगा।" ढाका के मठ में कोई भी समाचार-पत्र को साधुओं के कमरे में नहीं ला पाता था। वह बाहर ग्रन्थालय में ही रहता। जिसे पढ़ना होता, वह वहीं जाकर पढ़ लेता।

नवागन्तुकों को वे बड़े ही स्नेहपूर्ण स्वर में कहते, "वृद्धावस्था में जब काम-काज करने की सामर्थ्य नहीं रहेगी, तब कैसे समय बिताओगे? इसीलिये इस तरुणावस्था में ही जप-ध्यान, शास्त्रपाठ तथा सच्चर्चा आदि कुछ अच्छी आदतों का अभ्यास कर लेना पड़ता है। यह समय यदि गप्पे मारने में बिता दोगे, तो वृद्धावस्था में भी वही करना पड़ेगा।" वे बड़े सुन्दर ढंग से यह भी कहते, "एक दिनचर्या बनाकर चलना। वैसे उसमें भोजन के बाद थोड़ा-बहुत बातचीत करने तथा शाम के समय थोड़ा टहलने या व्यायाम आदि करने के लिये भी समय रहेगा।"

संन्यासियों के आश्रम में महिलाओं का घनिष्ठ भाव से आवागमन या साधुओं के साथ अबाध रूप से उठना-बैठना – उन्हें अत्यन्त नापसन्द था। आश्रम में भक्त-स्त्रियों के आने पर वे उन लोगों का यथोचित आदर-सत्कार आदि करते, परन्तु आवश्यकता से अधिक एक क्षण भी वे उन लोगों के साथ नहीं बिताते – खूब विनीत भाव के साथ वहाँ से विदा हो जाते। वे कहते, "एक ऐसा आश्रम होना चाहिये, जिसमें स्त्री-मेहतर तक न प्रवेश करे।" एक दिन किसी स्थानीय बालिका विद्यालय की कुछ शिक्षिकाएँ तथा छात्राएँ ढाका के मठ में आयी हुई थीं। आत्मानन्दजी ने एक ब्रह्मचारी को उन लोगों के हाथ प्रसाद देने का निर्देश दिया। ब्रह्मचारी अकेले थे, इसीलिये इतनी सारी बालिकाओं को प्रसाद देने में उन्हें थोड़ा समय लग गया था। बालिकाओं के चले जाने के बाद उन्होंने नाराजगी के साथ ब्रह्मचारी से कहा था, "अविवाहित बालिकाओं की हवा में अधिक समय न रहना। वे विषधर सर्प के समान हैं। उन लोगों के साथ तुम लोगों का अधिक समय रहना अनुचित है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संन्यासी आत्मानन्द के सान्निध्य से ढाका के साधु-भक्तों का अशेष कल्याण हुआ था। वे वहाँ प्रतिदिन शाम को शास्त्रों की शिक्षा देते थे। एक दिन वेदान्त-दर्शन के किसी सूत्र की व्याख्या करते समय उन्होंने अपने मन को खूब उच्च भावभूमि में उठा लिया और अपने मस्तक पर अंगुली रखकर बोले, "स्वामीजी की कृपा से इसमें कुछ है।" एक साधु ने एक बार उनसे सीधे पूछ लिया, "महाराज, आपको ईश्वर-दर्शन हुआ है क्या?" इस सरल तथा नि:संकोच प्रश्न को सुनकर पहले तो वे ठठाकर हँस पड़े और उसके बाद विनोदपूर्वक बोले, "अरे, यदि एक भूत भी देख पाता, तो समझता कि कुछ देखा है।" परन्तु अगले ही क्षण वे गम्भीर हो गये, उनका चेहरा लाल हो गया और वे बोले, "देखो, स्वामीजी की कृपा से मेरे मन में कोई कामना नहीं है।"

इस प्रसंग में और भी दो-चार बातें खूब विचारणीय हैं। एक दिन उन्होंने कहा था, "रूप-दर्शन आदि साधना-राज्य के खूब उच्च स्तर की बातें नहीं हैं। आध्यात्मिक उपलब्धि

के जगत् को दर्शन आदि के ऊपर ही समझना। सभी साधकों का स्वभाव रूप-दर्शन आदि के अनुकूल नहीं होता।'' एक अन्य समय किसी ने उनसे पूछा था, ''महाराज, कुछ अपने दिव्य-दर्शन आदि की बातें कहिये।'' इस पर वे स्मित हास्य के साथ तत्काल कह उठे थे, ''मुझे स्वामीजी की कृपा मिली है। उनका दर्शन मिला है, किसी अन्य दर्शन की कोई आवश्यकता नहीं। उन्होंने कृपापूर्वक कहा है कि उनका आश्रित शिष्य यदि नरक में चला जाय, तो वे उसका वहाँ से भी उद्धार करेंगे।'' स्वामीजी के एक निष्ठावान संन्यासी शिष्य के मुख से नि:सृत यह उक्ति गहन तात्पर्य की द्योतक है। स्वामी आत्मानन्द पर उनके आचार्य की असीम कृपा वर्षित हुई थी – उनके ज्ञानालोक से उद्‌भासित जीवन में उसके विपुल प्रमाण मिलते हैं।

आश्रम के सभी नये-पुराने साधु-कर्मियों के जीवन-गठन की ओर उनकी प्रखर दृष्टि थी। एक युवा साधु को वे प्रतिदिन गीता पढ़ाते थे और उन्हीं के निर्देश पर वे साधु गीता के पाँच श्लोक कण्ठस्थ करके उन्हें सुनाया करते थे। जब वे ढाका से चले आये, तो उन तरुण साधु ने सोचा कि इतने दिनों बाद अब उनका गीतापाठ बन्द हो जायेगा। तरुण के मन की आशंका समझकर आत्मानन्द ने उन्हें सस्नेह उपदेश दिया, ''गीता पढ़ना एक दिन के लिये भी बन्द न रखना। जैसे प्रतिदिन पाँच श्लोक कण्ठस्थ करते हो, वैसे ही करना और मन्दिर में जाकर ठाकुर को सुनाना।'' आत्मानन्दजी कहा करते थे, ''प्रत्येक साधु को पूरी गीता कण्ठस्थ होनी चाहिये।'' किसी ने पूछा, ''बताइये, पूजा किस भाव से करना चाहिये?'' इस पर उन्होंने कहा था, ''पूजा का अर्थ है सेवा। वे साक्षात् विराजमान हैं, यह निश्चित रूप से जानकर उन्हें नहलाना, खिलाना, पुष्प-माला से सजाना आदि करना चाहिये।'' इसी प्रकार वे छोटी-मोटी बातों की भी शिक्षा दिया करते थे। सर्वोपरि, उनकी दिनचर्या तथा जीवन ही उनके मुख के उपदेशों के उदाहरण-स्वरूप थे।

ढाका मठ से कुछ दिनों की छुट्टी लेकर १९२१ ई. में वे पुन: भुवनेश्वर गये थे। उस समय वे भुवनेश्वर के मठ में ही रहकर सर्वदा अविच्छिन्न भाव से साधन-भजन तथा शास्त्र-चर्चा में लगे रहते। इन दिनों उनका लोगों से मिलना-जुलना आदि काफी कम हो गया था।

१९२२ ई. की जुलाई में स्वामी तुरीयानन्दजी का काशीधाम में देहत्याग हो जाने पर, वहाँ के साधु-ब्रह्मचारी तथा भक्तगण बड़ी शून्यता का बोध कर रहे थे। इसी कारण मठाधीश स्वामी शिवानन्दजी ने आत्मानन्द को ही काशी भेजने का निश्चय किया और उन्हें भुवनेश्वर से बेलूड़ मठ चले आने का निर्देश दिया। तदनुसार १९२३ ई. के प्रारम्भ में स्वामी आत्मानन्द ने काशीधाम की यात्रा की। प्रस्थान के पूर्व महापुरुषजी को प्रणाम करने के बाद उनका आशीर्वाद लेकर विदा माँगने पर वे बड़ी देर कर आत्मानन्द के मुख की ओर एकटक देखते रहे और उसके बाद उन्हें अनुमति प्रदान की। आत्मानन्द मठ के पुराने घाट से नौका में चढ़कर कलकत्ते की ओर रवाना हुए। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा – महापुरुषजी तब भी मठ के दुमंजले पर खड़े होकर टकटकी लगाये उनके यात्रापथ पर आशीर्वाद-सिंचन कर रहे थे। जब तक दिखाई देता रहा, तब तक आत्मानन्द हाथ जोड़े नाव में खड़े रहे। उस समय भला कौन जानता था कि यही आत्मानन्द का अन्तिम मठ-दर्शन और महापुरुष महाराज से अन्तिम विदाई है! इसके बाद वे कलकत्ते में माँ के घर गये और वहाँ उद्‌बोधन कार्यालय में स्वामी सारदानन्दजी को भी प्रणाम करके उनका आशीर्वाद लिया।

वाराणसी जाने के मार्ग में उन्होंने पटना में उतर कर वहाँ कुछ दिन निवास किया था। इससे स्थानीय भक्तों के आनन्द की सीमा न रही – दूर-दूर से उनके परिचित भक्त आकर पटना में उनका दर्शन तथा संगलाभ कर जाते। एक भक्त ने उस काल की बातें याद करते हुए कहा था –

''काशी जाने के मार्ग में शुकुल महाराज हमारे पटना आश्रम में आकर कई दिन रहे। हम लोग तब उनकी सेवा के लिये दिन-रात आश्रम में ही बिताया करते थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि गंगाजल लाकर उन्हें स्नान कराऊँ। उनकी कृपा से मेरी वह इच्छा पूरी हुई। हम लोग कुछ दिन और भी उन्हें पटना में ही रोककर रखना चाहते थे, परन्तु वे बोले, ''मैं और विलम्ब नहीं कर सकता। मठाध्यक्ष महाराज का आदेश है – पटना में कुछ दिन रहने के बाद टिकट कटाकर सीधे वाराणसी चले जाना होगा।''

''उन दिनों ज्ञानेश्वर महाराज[१] आश्रम में गीता पर प्रवचन दिया करते थे। राजेन्द्र प्रसाद[२], कुलवन्त सहाय[३] आदि उसमें नियमित रूप से आया करते थे। उस दिन पाठ हो रहा था – अपाने जुह्वति प्राणं ... आदि। भौहों के बीच ध्यान करने की बात भी आयी। ज्ञानेश्वर महाराज बोले, 'यहाँ स्वयं स्वामी आत्मानन्द विद्यमान हैं – वे ही इस विषय को ठीक-ठीक समझाने में सक्षम हैं।' यह सुनकर शुकुल महाराज बोले, 'यह सब अखण्ड ब्रह्मचर्य की अपेक्षा रखता है। तुम लोग इसे क्या समझोगे?'

''एक दिन उनके टिन का बक्सा सजा रहा था। देखा कि उसमें कौपीन तथा धोती के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। राजा महाराज के दिये हुए गरम वस्त्र को उन्होंने बड़े यत्न के

१. पटना के रामकृष्ण मिशन आश्रम के संस्थापक स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द। अमेरिका में वेदान्त-प्रचार में उनका योगदान चिर-स्मरणीय रहेगा।

२. भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

३. न्यायमूर्ति कुलवन्त सहाय

साथ रखा था। मुझे खूब सावधानी से साथ हाथ लगाने को कहा। उसे धूप में देते समय उस पर गंगाजल आदि छिड़क दिया और उस पर कौआ आदि कोई पक्षी न बैठ जाय, इसके लिये स्वयं पहरा देने बैठ गये। मैं बोला, 'मैं ही पहरा दे दूँगा, आपको देने की आवश्यकता नहीं।'

''शुकुल महाराज के पास कोई भी गरम कपड़ा नहीं था, यह देखकर एक दिन मैंने उनके लिये एक स्वेटर खरीदकर ला दिया। स्वेटर पाकर वे बालक के समान आनन्द मनाने लगे – उन्होंने उसे ग्रहण किया और पहन लिया। ऋ. महाराज ने देखते ही स्वेटर को माँगा। उन्होंने तत्काल वैसे ही आनन्द के साथ शरीर से स्वेटर को उतारकर उन्हें दे दिया। इसके बाद वे ऋ. महाराज द्वारा उपयोग किये गये एक पुराने स्वेटर को पहनकर मजे से बैठ गये।

''शुकुल महाराज खूब प्रशान्त-गम्भीर स्वभाव के थे। ज्ञानेश्वर महाराज ने हम लोगों को बता दिया था, 'ये स्वामीजी के शिष्य हैं। बहुत बड़े महात्मा हैं।' एक दिन हम लोगों ने उन्हें पकड़ा, 'महाराज, कुछ स्वामीजी की बातें समझाइये।' उस दिन उन्होंने कहा था, 'स्वामीजी को तुम लोग क्या पकड़ोगे? स्वामीजी की धारणा करने के लिये उनके जीवन के उद्‌गम को समझने की आवश्यकता है। उनके मूल स्रोत ठाकुर तथा माँ हैं। फिर स्वामीजी के माध्यम से देखे बिना ठाकुर तथा माँ को भी बिल्कुल नहीं समझ सकोगे। अरे, ठाकुर ही तो स्वामीजी हैं।'

''जब शुकुल महाराज का शरीर दबाता, तो सुनता – वे खूब धीरे-धीरे 'माँ'-'माँ' कहते रहते थे।

अन्त में वे मोक्षतीर्थ वाराणसी पहुँचे। वहाँ के सेवाश्रम में उनकी उपस्थिति से समस्त साधुओं, कर्मियों तथा अनुरागी भक्तों में एक बार फिर आशा तथा आनन्द का संचार हुआ। सभी लोग ईश्वरीय-प्रसंग, सच्चर्चा तथा शास्त्र-पाठ आदि में उत्साह पाने लगे। वे साधु-ब्रह्मचारियों के लिये स्वामीजी के देववाणी, राजयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोग आदि ग्रन्थों का नियमित रूप से अध्यापन करने लगे। पाठ के समय किसी के द्वारा कोई अशुद्ध उच्चारण होने या गलत पढ़ने पर वे तत्काल उसे सुधार देते – सभी लोग विस्मित होकर देखते कि स्वामीजी की अधिकांश पुस्तकें उन्हें लगभग कण्ठस्थ हैं। यदि कोई कहता, ''नहीं महाराज, पुस्तक में तो ऐसा ही लिखा है।'' परन्तु वे असन्दिग्ध भाव से उत्तर देते, ''तो वह भूल है। तुम लोग पुराने संस्करण से मिलाकर देखो।'' पुराने संस्करण से मिलाकर देखे जाने पर उनकी अद्‌भुत स्मृति तथा मेधा-शक्ति का ही परिचय मिलता। ऐसा कई बार हुआ है। जब वे स्वामीजी की कविताओं की आवृत्ति करते, तो वह पूरा स्थान मानो भावों से स्पन्दित होने लगता। वे स्वयं ही 'संन्यासी का गीत' की आवृत्ति करते और उसकी प्रत्येक पंक्ति का मर्म समझा देते। इस कविता के विषय में आत्मानन्द कहते, ''यदि तुम सच्चे साधु बनना चाहते हो, तो आज से इसकी प्रत्येक उक्ति पर ध्यान करो।''

१९२३ ई. का सावन का महीना चल रहा था। एक दिन वे अपने सेवक से कह रहे थे, ''खेल आदि बहुत हुए। अब चलो, अब फिर से गंगा के किनारे निर्जन में जाकर बैठें। अब शोरगुल और लोगों से मिलना-जुलना आदि अच्छा नहीं लगता।'' इन दिनों वे खूब एकान्त-प्रिय हो गये थे – पाठ या चर्चा के अतिरिक्त उनके समक्ष अन्य कोई भी प्रसंग उठाना असम्भव हो उठा। सेवाश्रम के परिसर में कोई-कोई स्थान तब भी काफी जंगलाकीर्ण स्थान था। वे अम्बिका-धाम में निवास करते थे। उसी के निकट वैसे ही एक जंगलनुमा स्थान में एक विशेष पीपल के वृक्ष के नीचे उन्होंने दो-चार ईंट-पत्थर सजाकर अपना आसन बना लिया था। वे नियमित रूप से वहीं एकान्त में जाकर ध्यान-जप आदि किया करते थे। वह स्थान इतना निर्जन तथा लोगों के चलने-फिरने के अनुपयुक्त था कि बहुत दिनों तक किसी को आभास तक नहीं मिला कि वे कहाँ जाकर अपना आसन बिछाते हैं। वैसे बाद में लोगों को ज्ञात हो जाने के बाद लोकसंग के अनिच्छुक संन्यासी ने वहाँ से अपना आसन उठाकर वर्तमान १० नं. वार्ड-भवन के उत्तर-पश्चिमी कोने में स्थित एक वटवृक्ष के नीचे अपना आसन बनाया। उस स्थान के परिवेश तथा दुर्गमता का अब ठीक-ठीक अनुमान तक नहीं लगाया जा सकता। और नहीं तो, साँपों के भय से भी लोग उधर नहीं फटकते थे। इस वटवृक्ष के नीचे बना आसन ही आत्मानन्द के जीवन का अन्तिम साधना-स्थल था। सुबह के लगभग आठ बजे से साढ़े दस बजे तक तथा अपराह्न में दो-ढाई बजे से चार-साढ़े चार बजे तक और पुन: संध्या के कुछ पहले या बाद में वे इसी निर्जन स्थान में बैठे हुए दीख पड़ते। वैसे बीच-बीच में वे उस पूर्वोक्त पीपल के वृक्ष के नीचे भी बैठ जाते। इन दिनों स्वामी आत्मानन्द के जीवन में अन्तर्मुखता इतनी बढ़ गयी थी कि कोई भी उनके सम्मुख भगवत्-चर्चा के अतिरिक्त अन्य कोई भी बात करने का साहस ही नहीं करता था। उनकी अबाध जप-परायणता अन्य लोगों को भी जप-ध्यान के लिये निरन्तर प्रेरणा प्रदान करती रहती थी।

❖ (क्रमशः) ❖

कठोपनिषद्-भाष्य (१०)

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। हजारों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा उससे सम्बन्धित गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्रीशंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुन: स्थापना हेतु इन पर सहज-सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था। स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा किया हुआ कठोपनिषद्-भाष्य का सरल अनुवाद प्रस्तुत है। भाष्य में आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया गया है और कठिन सन्धियों का विच्छेद कर सरल रूप देने का प्रयास किया गया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को तात्पर्य समझने में सुविधा हो। –सं.)

भाष्यम् – 'तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयते अर्थात् य उ प्रेयो वृणीते' – इति उक्तम्; तत्कस्मात् ? यतः –

भाष्य-अनुवाद – पहले कहा गया "दोनों में से श्रेय मार्ग अपनानेवाले का कल्याण होता है। (पर) प्रिय लगनेवाले मार्ग पर चलनेवाला अपने लक्ष्य से पतित हो जाता है।" (कठ. १/२/१)। ऐसा क्यों है? इसलिये कि –

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ।।४(३३)।।

अन्वयार्थ – (जो) **अविद्या** प्रिय सुखों का साधनभूत कर्मकाण्ड, **या च** और जो **विद्या** मोक्ष प्राप्त करानेवाली ब्रह्मविद्या है, **इति ज्ञाता** वह इसी प्रकार (विद्वत् समाज में) परिचित है। **एते** ये दोनों **दूरम्** अत्यन्त **विपरीते** आपस में विपरीत तथा **विषूची** भिन्न फल देने वाले हैं। **नचिकेतसम्** हे नचिकेता, मैं तुम्हें **विद्या-अभीप्सिनम्** विद्या या श्रेय का अभिलाषी **मन्ये** मानता हूँ, (क्योंकि) **त्वा** तुम्हें **बहवः** अनेक **कामाः** काम्य विषय **न अलोलुपन्त** प्रलोभित नहीं कर सके अर्थात् श्रेयपथ से डिगा नहीं सके।

भावार्थ – (जो) प्रिय सुखों का साधनभूत कर्मकाण्ड का शास्त्र और जो मोक्ष प्राप्त करानेवाली ब्रह्मविद्या है, वह इसी प्रकार (विद्वत् समाज में) परिचित है। ये दोनों अत्यन्त आपस में विपरीत तथा भिन्न फल देने वाले हैं। हे नचिकेता, मैं तुम्हें विद्या या श्रेय का अभिलाषी मानता हूँ, (क्योंकि) तुम्हें अनेक काम्य विषय प्रलुब्ध नहीं कर सके अर्थात् श्रेयपथ से डिगा नहीं सके।

भाष्यम् – दूरं दूरेण महत्-अन्तरेण एते विपरीते अन्योन्य-व्यावृत्त-रूपे विवेक-अविवेकात्मकत्वात् तमःप्रकाशौ इव विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्न-फले संसार-मोक्ष-हेतुत्वेन इति एतत्। के ते इति, उच्यते।

भाष्य-अनुवाद – (श्रेय तथा प्रेय) ये दोनों विवेकात्मक तथा अविवेकात्मक होने के कारण अन्धकार तथा प्रकाश के समान परस्पर भिन्न स्वरूप वाले होने से (परस्पर) अत्यन्त दूरी रखते हैं, विपरीत हैं, विषूची अर्थात् विभिन्न गतियों तथा संसार तथा मोक्ष रूपी भिन्न फलों वाले हैं। इसका यही तात्पर्य है। वे कौन हैं? यह बताते हैं –

या च अविद्या प्रेयो-विषया विद्या इति च श्रेयो-विषया ज्ञाता निर्ज्ञाता अवगता पण्डितैः। तत्र विद्या-अभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वाम् अहं मन्ये। कस्मात्? यस्मात् अविद्वत्-बुद्धि-प्रलोभिनः कामाः अप्सरःप्रभृतयः बहवो अपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयो-मार्गात् आत्मोपभोग-अभिवाञ्छा-सम्पादनेन। अतो विद्यार्थिनं श्रेयो-भाजनं मन्ये इति अभिप्रायः।। १/२/४ (३३)।।

भाष्य-अनुवाद – विद्वान् लोग प्रिय विषयों को अविद्या के रूप में जानते हैं और श्रेय अर्थात् हितकर को विद्या के रूप में जानते हैं। हे नचिकेता, मैं तुम्हें विद्या का अभिलाषी विद्यार्थी मानता हूँ। क्यों? इसलिये कि अज्ञानी जनों की बुद्धि को प्रलुब्ध कर देनेवाले अप्सराएँ आदि अनेक काम्य विषय तुम्हें स्वयं को भोग करने की इच्छा उत्पन्न करके तुम्हें श्रेय के मार्ग से विचलित नहीं कर सके; अत: मैं तुम्हें श्रेय (श्रेष्ठ) के लिये योग्य मानता हूँ – इसका यही अभिप्राय है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।५ (३४)।।

अन्वयार्थ – (जो लोग) **अविद्यायाम् अन्तरे** अविद्या के बीच (काम्य वस्तुओं द्वारा घिरे हुए) **वर्तमानाः** स्थित हैं; **स्वयम्** स्वयं को **धीराः** बुद्धिमान तथा **पण्डितम्-मन्यमानाः** विद्वान् या शास्त्रज्ञ समझते हैं; (ऐसे) **मूढ़ाः** अविवेकी लोग **दन्द्रम्यमाणाः** अत्यन्त कुटिल विविध गतियों को प्राप्त करके **परियन्ति** परिभ्रमण करते रहते हैं; (वैसे ही) **यथा** जैसे **अन्धेन एव** अन्धों के ही द्वारा **नीयमानाः** ले जाये जाते हुए **अन्धाः** अन्धे लोग। अर्थात् जरा, मरण आदि दु:खों में भटकते हुए मुक्ति से वंचित रहते हैं।

भावार्थ – (जो लोग) अविद्या के बीच (काम्य वस्तुओं द्वारा घिरे हुए) स्थित हैं; स्वयं को बुद्धिमान तथा विद्वान् या शास्त्रज्ञ समझते हैं; (ऐसे) अविवेकी लोग अत्यन्त कुटिल विविध गतियों को प्राप्त करके परिभ्रमण करते रहते हैं; (वैसे

ही) जैसे अन्धों के ही द्वारा ले जाये जाते हुए अन्धे लोग। अर्थात् जरा, मरण आदि दु:खों में भटकते हुए मुक्ति से वंचित रहते हैं।

भाष्यम् – ये तु संसार-भाजो जना:, अविद्यायाम् अन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना: वेष्ट्यमाना: पुत्र-पशु-आदि-तृष्णा-पाश-शतै:, स्वयं धीरा: प्रज्ञावन्त: पण्डिता: शास्त्र-कुशला: च इति मन्यमाना: ते दन्द्रम्यमाणा: अत्यर्थं कुटिलाम् अनेक-रूपां गतिं गच्छन्त: जरा-मरण-रोग-आदि -दु:खै: परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा: अविवेकिन: अन्धेनैव दृष्टि-विकलेन-एव नीयमाना: विषमे पथि यथा बहव: अन्धा: महान्तम् अनर्थम् ऋच्छन्ति, तद्वत् ।। १/२/५(३३)।।

भाष्य-अनुवाद – जो लोग संसार के लिये ही योग्य हैं, वे पुत्रों-पशुओं आदि की तृष्णा रूपी सैकड़ों शृंखलाओं से बँधे हुए अविद्या अर्थात् गहन अन्धकार से घिरे हुए निवास करते हैं और अपने विषय में मानते रहते हैं कि 'हम ज्ञानी तथा शास्त्रज्ञ हैं' – ऐसे मूढ़ अर्थात् अविवेकी लोग तरह-तरह के टेढ़े मार्गों पर चलते हुए, वार्धक्य-मृत्यु-रोग आदि के दु:ख भोगते हुए बारम्बार चक्कर लगाते रहते हैं; उसी प्रकार जैसे कि कोई अन्धा व्यक्ति अनेक अन्धों को ऊबड़-खाबड़ मार्ग से ले जाते हुए महान् अनर्थ को प्राप्त होता है।

भाष्यम् – अत एव मूढत्वात् न साम्पराय: प्रतिभाति ।

भाष्य-अनुवाद – इसी कारण – इस मूढ़ता के कारण उन्हें परलोक की प्राप्ति के साधन नहीं सूझते –

न साम्पराय: प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुन: पुनर्वशमापद्यते मे ।।६ (३५)।।

अन्वयार्थ – **प्रमाद्यन्तम्** प्रमादी, पुत्र आदि विषयों में आसक्त) **वित्तमोहेन** धन के मोह से **मूढम्** अज्ञान-आच्छन्न **बालम्** अविवेकी **प्रति** के समक्ष **साम्पराय:** परलोक-प्राप्ति का शास्त्रीय साधन **न भाति** प्रकट नहीं होता। **अयम् लोक:** यह दृश्यमान भोगायतन जगत् (है), **पर:** परलोक **न अस्ति** नहीं है – **इति** ऐसा **मानी** सोचने वाला व्यक्ति **पुन: पुन:** बारम्बार **मे** मेरी **वशम्** अधीनता को **आपद्यते** प्राप्त होता है।

भावार्थ – प्रमादी (पुत्र आदि विषयों में आसक्त) तथा धन के मोह से अज्ञान-आच्छन्न अविवेकी के समक्ष परलोक-प्राप्ति का शास्त्रीय साधन प्रकट नहीं होता। यह दृश्यमान भोगायतन जगत् (है), परलोक नहीं है – ऐसा सोचने वाला व्यक्ति बारम्बार मेरी अधीनता को प्राप्त होता है।

भाष्यम् – सम्पर ईयते इति सम्पराय: परलोक:, तत्-प्राप्ति-प्रयोजन: साधन-विशेष: शास्त्रीय: साम्पराय: । स च बालम् अविवेकिनं प्रति न प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठते इति एतत् । प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्र-पशु-आदि-प्रयोजनेषु आसक्त-मनसं तथा वित्तमोहेन वित्त-निमित्तेन अविवेकेन मूढं तमस्-आच्छन्नम् । स तु अयम् एव लोक: य: अयं दृश्यमान: स्त्री-अन्न-पान-आदि-विशिष्ट: नास्ति पर: अदृशो लोक: इति एवं मननशील: मानी पुन: पुन: जनित्वा वशम् अधीनताम् आपद्यते मे मृत्यो: मम । जनन-मरण-आदि-लक्षण-दु:ख-प्रबन्ध-आरूढ एव भवति इति अर्थ: । प्रायेण ह्येवंविध एव लोक: ।। १/२/६ (३५)।।

भाष्य-अनुवाद – शरीर छूटने के बाद (जीव) जहाँ जाता है, वह सम्पराय या परलोक है। उसे प्राप्त करने के किसी भी विशेष साधन को साम्पराय कहते हैं। वह अविवेकी व्यक्ति के सामने प्रकाशित अर्थात् व्यक्त नहीं होता। (उसे परलोक तथा उसके साधनों में श्रद्धा नहीं होती।) जो प्रमादी है अर्थात् पुत्र-पशु आदि उद्देश्यों में आसक्तिपूर्ण मनवाला है, जो धनवत्ता से उत्पन्न अविवेक के कारण मूढ़ या अज्ञान से आच्छन्न है; ऐसा व्यक्ति यह मानकर कि केवल इसी स्त्री-अन्न-पेय-आदि से युक्त दृश्यमान जगत् का ही अस्तित्व है और किसी अदृश्य लोक का अस्तित्व नहीं है – निरन्तर ऐसा सोचता हुआ बारम्बार जन्म लेने के बाद मुझ मृत्यु के अधीन आ जाता है। तात्पर्य यह कि वह जन्म-मृत्यु आदि रूपी दु:ख के क्रम में पड़ा रहता है। यह संसार प्राय: ऐसा ही देखने में आता है।

भाष्यम् – यस्तु श्रेय: अर्थी स सहस्रेषु कश्चित् एव आत्मविद् भवति त्वत्-विधो यस्मात् -

भाष्य-अनुवाद – परन्तु श्रेय को चाहने और आत्मज्ञान को पानेवाला तुम्हारे समान हजारों में कोई एक ही होगा, क्योंकि –

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य:
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्यु: ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट: ।।७(३६)।।

अन्वयार्थ – (चूँकि) **य:** यह आत्मा **बहुभि:** बहुत-से लोगों के लिए **श्रवणाय अपि** सुनने मात्र के लिये भी **न लभ्य:** सुलभ नहीं है, **यम्** जिसके विषय में **शृण्वन्त: अपि** श्रवण करने पर भी **बहव:** बहुत-से लोग **न विद्यु:** जान नहीं पाते, (अत:) **अस्य** इस आत्मा का **वक्ता** बतानेवाला, आचार्य **आश्चर्य:** अद्भुत या दुर्लभ है (और) **कुशल:** निपुण व्यक्ति ही **लब्धा** आत्मज्ञानी होता है; (क्योंकि) **कुशल-अनुशिष्ट:** निपुण आचार्य द्वारा उपदिष्ट होकर **आश्चर्य:** कोई विरल या विशेष अधिकारी ही **ज्ञाता** इसे जानता है।

भावार्थ – (चूँकि) यह आत्मा बहुत-से लोगों के लिए सुनने मात्र के लिये भी सुलभ नहीं है, जिसके विषय में

श्रवण करने पर भी बहुत-से लोग जान नहीं पाते, (अत:) इस आत्मा का बतानेवाला, आचार्य अद्भुत या दुर्लभ है (और) निपुण व्यक्ति ही आत्मज्ञानी होता है; (क्योंकि) निपुण आचार्य द्वारा उपदिष्ट होकर कोई विरल या विशेष अधिकारी ही इसे जानता है।

भाष्यम् – श्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुम् अपि यः न लभ्यः आत्मा बहुभिः अनेकैः, शृण्वन्तः अपि बहवः अनेके अन्ये यम् आत्मानं न विद्युः न विदन्ति अभागिनः असंस्कृत-आत्मानः न विजानीयुः। किं च, अस्य वक्ता अपि आश्चर्यः अद्भुतवद् एव अनेकेषु कश्चित् एव भवति। तथा श्रुत्वा अपि अस्य आत्मनः कुशलः निपुण एव अनेकेषु लब्धा कश्चित् एव भवति। यस्मात् आश्चर्यः ज्ञाता कश्चित् एव कुशल-अनुशिष्टः कुशलेन निपुणेन आचार्येण अनुशिष्टः सन्।। १/२/७ (३६)।।

भाष्य-अनुवाद – बहुत-से लोगों को इस आत्मा के विषय में सुनने के लिये भी नहीं मिलता, (फिर दूसरे) अशुद्ध मनवाले दुर्भाग्यवान लोग इस आत्मा के विषय में सुनते हुए भी उसे नहीं जान पाते। इसके अतिरिक्त इसका वक्ता भी अद्भुत – बहुतों में कोई एक ही होता है। इसी प्रकार इस आत्मा के विषय में सुननेवालों में भी अनेकों में से कोई कुशल व्यक्ति ही उसे प्राप्त करनेवाला होता है। किसी कुशल (ज्ञानी) आचार्य से उपदेश ग्रहण करने के कारण इसका ज्ञाता भी अद्भुत होता है।

❖ (क्रमशः) ❖

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

महावाक्य पर विचार (जारी)

मृत्कार्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाहितं
तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम्।
यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम्।।२५१।

अन्वय – घटादि सकलं मृत्कार्यं सततं आहितं मृन्मात्रं एव, तद्वत् इदं अखिलं सज्जनितं सदात्मकं सन्मात्रं एव, यस्मात् सतः परं किमपि न अस्ति तत् सत्यं सः आत्मा स्वयं, तस्मात् यत् प्रशान्तं अमलं परम् अद्वयं ब्रह्म तत् त्वम् असि।

अर्थ – घट आदि सब कुछ जो मिट्टी के कार्य या उत्पाद हैं, वे सर्वदा सत्य प्रतीत होते हैं, तथापि केवल मिट्टी ही हैं, वैसे ही यह सब कुछ सत् अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न, ब्रह्मात्मक, ब्रह्ममात्र ही है। चूँकि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, एकमात्र वही – हमारी आत्मा ही सत्य है, अत: जो प्रशान्त, निर्मल, परम्, अद्वय ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो।

निद्रा-कल्पित-देश-काल-विषय-ज्ञात्रादि सर्वं यथा
मिथ्या तद्वदिहापि जाग्रति जगत्स्वाज्ञानकार्यत्वतः
यस्मादेवमिदं शरीरकरण-प्राणाहमाद्यप्यसत्
तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम्।।२५२

अन्वय – निद्रा-कल्पित-देश-काल-विषय-ज्ञात्रादि सर्वं यथा मिथ्या, तद्वत् इह जाग्रति अपि जगत् स्व-अज्ञान-कार्यत्वतः यस्मात् एवं इदं शरीर-करण-प्राण-अहम् आदि अपि असत्। तस्मात् यत् प्रशान्तं अमलं परम् अद्वयं ब्रह्म तत् त्वम् असि।

अर्थ – जैसे निद्रा के समय स्वप्न की अवस्था में देखे हुए कल्पित देश, काल, विभिन्न विषय और उसका ज्ञाता – सभी मिथ्या होते हैं, वैसे ही जाग्रत अवस्था में यह संसार भी (मिथ्या है), क्योंकि ये अपने अज्ञान के कार्य हैं। इसीलिये यह शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, अहंकार आदि भी मिथ्या हैं। अत: जो प्रशान्त, निर्मल, परम्, अद्वय ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो।

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके
तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम्।
स्वप्ने नष्टं स्वप्नविश्वं विचित्रं
स्वस्माद्भिन्नं किन्नु दृष्टं प्रबोधे।।२५३।।

अन्वय – यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्-विवेके तत्-तत्-मात्रं विभिन्नं न एव। दृष्टं विचित्रं स्वप्न-विश्वं स्वप्ने नष्टं। प्रबोधे स्वस्मात् भिन्नं किं नु?

अर्थ – जहाँ भ्रान्ति के कारण कोई वस्तु (सर्प) कल्पित होती है, उसके मूल अधिष्ठान वस्तु (रज्जु) का ज्ञान होने पर उसका स्वरूप मात्र ही रह जाता है। उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं रह जाता। (वैसे ही) स्वप्न में देखा हुआ वैचित्र्यमय जगत् स्वप्न में ही विलीन हो जाता है। जागने के बाद क्या अपने से भिन्न कुछ रह जाता है?

जातिनीति-कुलगोत्रदूरगं
नामरूप-गुणदोष-वर्जितम्।
देशकाल-विषयातिवर्ति यद्
ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि।।२५४।।

अन्वय – जाति-नीति-कुल-गोत्र-दूरगं नाम-रूप-गुण-दोष-वर्जितम् देश-काल-विषय-अतिवर्ति यद् ब्रह्म तत् त्वम् असि – आत्मनि भावय।

अर्थ – जो (ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि) जातियों से परे है, जो (समाजनीति, राजनीति आदि) नीतियों से परे है, जो कुल-गोत्र से परे है, जो नाम-रूप से परे है, जो गुण-दोष तथा देश-काल तथा समस्त विषयों के अतीत है, ऐसा जो ब्रह्म है, वह तुम्हीं हो – अपने अन्त:करण में ऐसा ध्यान करो।

❖ (क्रमशः) ❖

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१९८. हम बड़ हम बड़ जो कहें

सदाशिव शास्त्री येवलेकर को अपनी विद्वत्ता का बड़ा अभिमान था। वह हमेशा मशाल जलाकर और जनेऊ में छुरी बाँधकर चलते थे। गंगाभट्ट ने उनका अभिमान दूर करने के इरादे से उन्हें बताया, "चाफल में सन्त रामदास का आगमन हुआ है। आओ, हम उनसे मिलने चलें।" उन्हें साथ लेकर गंगाभट्ट जब चाफल पहुँचे, उन्होंने रामदासजी को एक शिला पर बैठा पाया। गंगाभट्ट ने झुककर उनका चरण-स्पर्श किया, परन्तु शास्त्रीजी स्वयं को उनसे श्रेष्ठ समझते थे, अत: उन्होंने प्रणाम नहीं किया, बल्कि दम्भपूर्वक गंगाभट्ट से बोले, "यदि ये सिद्ध कर देंगे कि मुझसे श्रेष्ठ हैं, तो मैं मशाल बुझा दूँगा और छुरी से अपनी जीभ काट लूँगा।"

समर्थ ने सुना, तो शिष्य कल्याण से कहा कि वे एक लकड़हारे को बुला लायें। लकड़हारे के आने के बाद उन्होंने कल्याण से एक रेखा खींचने को कहा। रेखा खिंच जाने के बाद उन्होंने लकड़हारे से रेखा के उस पार जाने को कहा। लकड़हारे द्वारा रेखा पार कर लेने पर उन्होंने उससे प्रश्न किया, "तुम कौन हो?" लकड़हारे ने उत्तर दिया, "मैं शूद्र हूँ।" तब उन्होंने कल्याण से दूसरी रेखा खींचने को और लकड़हारे से उसके पार जाने को कहा। रेखा को पार करने के बाद उन्होंने लकड़हारे से पुन: पूछा, "तुम कौन हो?" इस बार लकड़हारे ने स्वयं को वैश्य बताया। रामदासजी ने इसी प्रकार अपने शिष्य से एक-एक कर और भी दो रेखाएँ खींचने और लकड़हारे से उन्हें पार करने को कहा। फिर लकड़हारे से – "वह कौन है?" पूछने पर उसने क्रमश: अपने को क्षत्रिय और ब्राह्मण बताया।

शास्त्रीजी यह सब चुपचाप देख रहे थे। उन्होंने लकड़हारे की परीक्षा लेनी चाही। उन्होंने उससे प्रश्न किया, "क्या तुम पढ़े-लिखे हो?" – "हाँ, मैंने शास्त्रों का अध्ययन किया है।" – "तो क्या तुम मुझसे शास्त्रार्थ करोगे?" लकड़हारे के – "हाँ" कहने पर उन्होंने लकड़हारे से पाँच प्रश्न किये और उसने पाँचों के सही-सही उत्तर दिये।

यह देख शास्त्रीजी का सारा दम्भ टूट गया। उन्होंने न केवल सन्त रामदासजी को, बल्कि लकड़हारे को भी दण्डवत प्रणाम किया। फिर मशाल को बुझाकर जीभ को काटने के लिये छुरा उठाया ही था कि रामदासजी ने उनके हाथ से छुरा छीन लिया और कहा, "आपने मशाल बुझा दी, यही पर्याप्त है। आज से आप यहाँ के मठ में निवास करेंगे।"

शास्त्री ने सहर्ष स्वीकार किया। बाद में स्वामीजी ने दीक्षा देकर उन्हें वासुदेव पण्डित नाम दिया। ये ही वासुदेव पण्डित बाद में वहाँ के मठाधीश हुए।

१९९. पर दुख देख तपे सो सन्ता

एक बार प्रभु ईसा प्रवचन दे रहे थे, तभी उन्हें एक श्रोता पीड़ा से कराहता दिखाई दिया। वे तुरन्त उसके पास जाकर उसकी सुश्रूषा में जुट गये। उन्हें जल्दी न आते देख एक श्रोता को गुस्सा आया। वह चिल्ला उठा, "हम यहाँ प्रवचन सुनने आये हैं, कृपया प्रवचन शुरू करें।" उसकी देखा-देखी अन्य लोग भी चिल्लाने लगे। शोरगुल बढ़ जाने पर ईसा ने श्रोताओं से शान्त रहने को कहा। फिर उन्होंने उन लोगों के सामने एक प्रश्न रखा, "यदि आपकी भेड़ कुएँ में गिर जाए और आप किसी जरूरी काम में व्यस्त हैं, तो क्या करेंगे?" एक श्रोता ने उत्तर दिया, "हम भेड़ को बचाने की चेष्टा करेंगे, अन्यथा उसके पानी में डूब जाने का भय रहेगा।"

"तुमने ठीक कहा," ईसा बोले, "पहले भेड़ की जान बचाना जरूरी है। इसी प्रकार प्रवचन देना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना कि इस बीमार आदमी की ओर ध्यान देना। प्रवचन से केवल ज्ञान बढ़ता है और मनोरंजन होता है। परन्तु रोगी की यदि समय पर चिकित्सा न की जाए, तो उसके अनिष्ट की आशंका हो जायेगी। अब आप बताएँ कि मैं प्रवचन दूँ या इस व्यक्ति के कष्ट की ओर ध्यान दूँ?" जो श्रोता अब तक खामोश बैठे थे, वे अब चिल्ला उठें, "आप पहले इनकी सेवा कर लें। हम तब तक प्रतीक्षा कर लेते हैं।" जो पहले शोर मचा रहे थे, वे भी चिल्लाकर बोले, "पहले उपचार करें, उपदेश बाद में दें।"

स्वाध्याय, सत्संग तथा प्रवचन सुनने का उद्देश्य यही है कि हम दुखी जनों के कष्ट में सहानुभूति अनुभव करें और उसे दूर करने की चेष्टा करें। दूसरों के दुखों को दूर करने का प्रयास व्यक्ति का प्रथम कर्तव्य है। कवि कहता है –

कबीर सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो परपीर न जानई, सो काफीर बेपीर।।
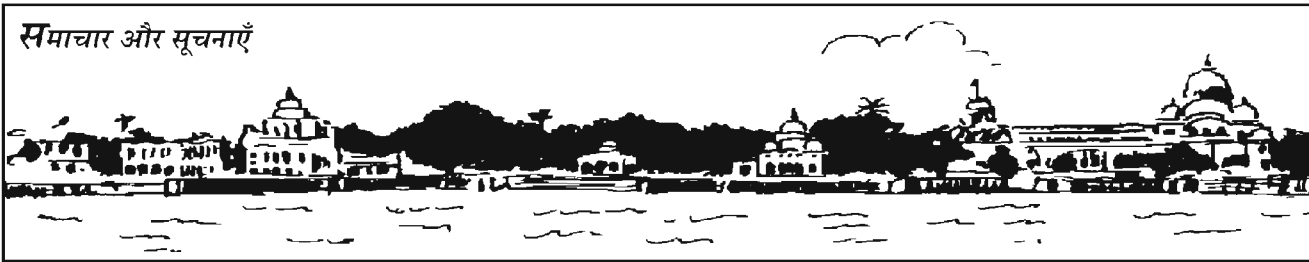
रामकृष्ण मठ तथा मिशन के विभिन्न केन्द्रों द्वारा आयोजित कार्यक्रमों की झलकियाँ

रामकृष्ण मिशन आश्रम, मोराबादी, राँची में विगत १ मई, २०११ को संध्या ६ बजे से 'रामकृष्ण संघ और उसका आदर्श एवं कार्य' विषय पर एक धर्मसभा का आयोजन किया गया। इसमें वक्ता के रूप में रामकृष्ण मठ एवं रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द मेमोरियल, बड़ोदरा के सचिव स्वामी निखिलेश्वरानन्द, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ के कुलपति स्वामी आत्मप्रियानन्द तथा रामकृष्ण मिशन आश्रम, चण्डीगढ़ के सचिव स्वामी ब्रह्मेशानन्द ने उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित किया।

२ मई, २०११ को संध्या ६ बजे 'मेरे धर्म के व्यावहारिक सिद्धान्त' विषय पर आश्रम सभागार में सर्व-धर्म-सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें वक्ता के रूप में स्वामी आत्मप्रियानन्द (हिन्दू धर्म), स्वामी ब्रह्मेशानन्द (जैन धर्म), स्वामी निखिलेश्वरानन्द (बौद्ध धर्म), डॉ. शाहीद हसन (इस्लाम धर्म) तथा आश्रम के सचिव स्वामी शशांकानन्द (ईसाई धर्म) ने अपने-अपने विचार व्यक्त किए।

बाढ़-पीड़ितों को आवास प्रदान किया गया

रामकृष्ण आश्रम, राजकोट – द्वारा १२ मार्च, २०११ को कच्छ (गुजरात) के धनेटी ग्राम में एक चार कक्षों वाला विद्यालय का आरम्भ करके, उसे धनेटी के 'श्रीरामकृष्ण सेवा समिति' को प्रदान किया गया। आश्रम द्वारा गुजरात सरकार की सहायता से राजकोट जिले के परेभादा ग्राम के मदारियों को ६० आवास बनाकर १३ मार्च को उन्हें सौंप दिये गये।

रामकृष्ण मिशन, बेलगाम : रामकृष्ण मिशन राहत सेवा और 'इन्फोसिस उत्तर कर्नाटक बाढ़ राहत कार्यक्रम' के संयुक्त तत्त्वाधान में रायचूर जिलान्तर्गत सिंघानुर तालुके के चिन्ता-मनोडोडी एवं पुलामेश्वरी-दिन्नी ग्रामवासियों के २२९ लाभार्थियों को आवास प्रदान किए गये। बाढ़पीड़ितों के लिए निर्मित ये गृह २७ मई को समर्पित किए गए थे।

श्रीरामकृष्णदेव की १७५वाँ आविर्भाव-तिथि महोत्सव

रामकृष्ण मिशन आश्रम, सरिषा ने २५-२७ मार्च, २०११ तक बड़े धूमधाम से मनाया। २५ मार्च की शाम आश्रम के नर्सरी स्कूल के छात्र-छात्राओं ने 'भक्त-ध्रुव' नाटक का मंचन किया। दूसरे दिन छात्र-छात्राओं ने आवृत्ति पाठ, भजन, श्रुति-नाटक और व्याख्यान दिया। शिक्षाविद् सुबल बसु को मानपत्र दिया गया। आश्रम द्वारा संचालित शिक्षा संस्थानों के पूर्व छात्र-छात्रों, शिक्षक-शिक्षिकाओं और शिक्षा-कर्मियों का पुनर्मिलन समारोह सुसम्पन्न हुआ। स्वामी विश्वनाथानन्द जी और स्वामी शिवप्रदानन्द जी ने व्याख्यान दिया। लगभग ३०० छात्र-छात्राओं ने इस समारोह में भाग लिया।

२७ मार्च को शोभायात्रा, भजन, गीति-आलेख, बाउल गान, वाद्य-संगीत और 'नटी-विनोदिनी' नाटक का मंचन हुआ। स्वामी सत्यदेवानन्दजी और स्वामी शिवप्रदानन्दजी ने व्याख्यान दिये। दोपहर में लगभग ९० संन्यासी-ब्रह्मचारी और १७,५०० भक्तों ने प्रसाद पाया।

माँ के राजमन्द्री आगमन की शताब्दी

'माँ श्री सारदादेवी के राजमन्द्री आगमन की शताब्दी और रामकृष्ण मठ, राजमन्द्री की हीरक जयन्ती के उपलक्ष्य में ३१ मार्च से ४ अप्रैल तक भक्त-सम्मेलन, युवा-सम्मेलन, महिला-सम्मेलन, सार्वजनिक सभा और सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये गये। एक शोभायात्रा भी निकाली गयी। २ अप्रैल को गोदावरी नदी के पुष्कर घाट में चंडीहोम किया गया। इसी घाट पर श्रीमाँ ने स्नान किया था। करीब ५० साधु-ब्रह्मचारी और ३००० भक्तों ने समारोह में भाग लिया।

जापान में राहत कार्य

जापान में ११ मार्च को आये विध्वंसकारी भूकम्प और उसके बाद सुनामी से त्रस्त लोगों में वहाँ के आश्रम द्वारा खाद्य-सामग्री, वस्त्र और दैनन्दिन उपयोगी चीजें बाँटी गयीं।

अन्य समाचार

रामकृष्ण मिशन, चंडीगढ़ – में १ और २ अप्रैल को आयोजित वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में हरियाणा के राज्यपाल महामहिम जगन्नाथ पहाड़िया और हिमाचल के राज्यपाल महामहिम उर्मिला सिंह ने आश्रम का परिदर्शन किया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, कालडी – में आश्रम का प्लैटिनम जयन्ती १४ अप्रैल से १७ अप्रैल चार दिन तक मनाया गया। इसमें भक्त-सम्मेलन, युवा-सम्मेलन, सार्वजनिक सभा, विशेष पूजा और सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया। सभा की अध्यक्षता रामकृष्ण मिशन के महासचिव स्वामी प्रभानन्द जी ने की। महाराष्ट्र के राज्यपाल महामहिम के. शंकर नारायण जी कार्यक्रम के मुख्य अतिथि थे।